श्री जवाहर किरणावली—इकतीसवीं किरण

गृहस्थधर्म

[प्रथम भाग]

व्याख्याता:—

जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज।

सम्पादक:—

श्री प० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल, न्यायतीर्थ।

प्रकाशक:—

श्री जवाहर साहित्य समिति, भीनासर

निवेदन—

श्री जवाहर किरणावली की इकतीसवीं किरण पाठको के कर-कमलों में अर्पित करते अतीव आनन्द होता है। इस किरण में पूज्य श्री जवाहरलालजी म० के सम्यक्त्व सम्बन्धी प्रवचनो का सग्रह किया गया है और अहिंसाणुव्रत सम्बन्धी प्रवचनो का भी। विचार यह किया गया था कि सम्यक्त्व सहित गृहस्थ के बारहों व्रतो सबधी प्रवचनो को एक ही जिल्द में प्रकाशित किया जाय, किन्तु कई कारणों से वह सम्भव न हो सका। अतएव उन्हे दो जिल्दों मे प्रकाशित किया जा रहा है। दूसरी जिल्द, जिसमे शेप ग्यारह अणुव्रतो का तथा षड्-आवश्यक आदि का विवेचन होगा, शीघ्र प्रकाशित करने की व्यवस्था की जा रही है।

व्रतो सम्बन्धी प्रवचन श्री हितेच्छु श्रावक मण्डल, रतलाम से प्रकाशित हुए थे। वह कई अलग-अलग पुस्तिकाओ में थे। पाठकों के सुभीते के लिये इधर-उधर बिखरे तद्विपयक अन्यान्य विवेचन के साथ उन्हें भी सगृहीत रूप में प्रकाशित करने की अनेक साहित्य-प्रेमियों की माग थी। इस प्रकाशन में कथा भाग को कम कर दिया गया है, ताकि विस्तार कम हो जाय, किन्तु व्रतो सम्बन्धी विवेचना ज्यों की त्यों रहे। आशा है, इस प्रयास से जिज्ञासु पाठको को गृहस्थ-धर्म का समग्र मर्म समझने में काफी सहूलियत होगी।

श्री हितेच्छु श्रावक मण्डल का अब अस्तित्व नहीं रहा है, तथापि हम उसके प्रति अति कृतज्ञ हैं। वास्तव में उसी के महत्त्व-पूर्ण प्रयत्नों का यह सुफल है कि हम पूज्य श्री की अमर-वाणी पाठकों के समक्ष उपस्थित कर सके हैं। इस दृष्टि से मण्डल का अस्तित्व सदैव रहेगा। आशा है, पाठकगण इन प्रवचनों से, जो गृहस्थधर्म पर अपूर्व प्रकाश डालने वाले हैं, पूरा-पूरा लाभ उठाएँगे।

निवेदक—
चम्पालाल बाठिया
मंत्री, श्री जवाहर साहित्य समिति

भीनासर
(बीकानेर)

विषय-सूची

अहिंसाणुव्रत

सम्यक्त्व

१—सम्यक्त्व का महत्त्व

सम्यक्त्वरत्नान्न परं हि रत्नं,
सम्यक्त्वमित्रान्न परं हि मित्रम् ।
सम्यक्त्वबन्धोर्न परो हि बन्धुः,
सम्यक्त्वलाभान्न परो हि लाभः ॥

जैन शास्त्रों में तीन रत्न प्रसिद्ध हैं, उन्हे 'रत्नत्रय' भी कहते हैं, मगर सम्यक्त्व-रत्न उन तीनों में प्रधान है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, यहाँ तीन रत्न हैं। पर सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का मूल सम्यग्दर्शन ही है। सम्यग्दर्शन की मौजूदगी में ही ज्ञान और चारित्र में सम्यक्ता आती है। जहाँ सम्यग्दर्शन नहीं वहाँ सम्यग्ज्ञान भी नहीं और सम्यक्चारित्र भी नहीं। सम्यग्दर्शनहीन ज्ञान और चारित्र मिथ्याज्ञान और मिथ्या-चारित्र कहलाते हैं।

सम्यग्दर्शन न हो तो ज्ञान और चारित्र आत्मा के प्रयोजन को सिद्ध नहीं कर सकते। उनसे भवभ्रमण का अन्त नहीं हो सकता। यही नहीं, वे भवभ्रमण के ही कारण होते हैं। कहा है-

श्लाघ्यं हि चरणज्ञानवियुक्तमपि दर्शनम् ॥
न पुनर्ज्ञानचारित्रे, मिथ्यात्वविषदूषिते ॥

सम्यग्दर्शन कदाचित् विशिष्ट ज्ञान और चारित्र से रहित हो, तब भी वह प्रशंसनीय है। उससे संसार परीत हो जाता है। परन्तु मिथ्यात्व के विष से विषैले विपुल ज्ञान और चारित्र का होना प्रशंसनीय नहीं है।

सम्यक्त्व से बढ़कर आत्मा का अन्य कोई मित्र नहीं है। मित्र का काम अहितमार्ग से हटाकर मनुष्य को हितमार्ग में लगाना है। इस दृष्टि से सम्यक्त्व ही सबसे बड़ा मित्र है। जब आत्मा को सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है, तब उसकी दृष्टि निर्मल हो जाती है। उसे हित-अहित का विवेक हो जाता है। जब तक जीव मिथ्यात्व की दशा में रहता है, तब तक तो वह हित को अहित और अहित को हित समझता रहता है और उसी के अनुसार विपरीत प्रवृत्ति भी करता रहता है किन्तु सम्यक्त्व का सूर्योदय होते ही दृष्टि का विभ्रम हट जाता है और आत्मा को सत्य तत्त्व की उपलब्धि होने लगती है। वह हेय-उपादेय को समीचीन रूप में समझने लगता है। इस प्रकार हितमार्ग में प्रवृत्ति कराने के कारण और अहितमार्ग से बचाने के कारण सम्यक्त्व परममित्र है।

सम्यक्त्व अनुपम बन्धु है। बन्धु का अर्थ है-सहायक। जब आत्मा अपने कल्याणपथ में प्रवृत्ति करने के लिए उद्यत होता है,

तो सम्यक्त्व ही सर्वप्रथम उसका सहायक होता है। अन्य सहायकों की सहायता से जो सफलता मिलती है, वह क्षणिक होती है और कभी कभी उसमें असफलता छिपी रहती है, परन्तु सम्यक्त्व रूप सहायक के सहयोग से मिलने वाली सफलता चिरस्थायी होती है और उसके उदर में असफलता नहीं होती।

संसार में, विषय-कषाय के अधीन होकर जीव नाना प्रकार के पदार्थों की कामना करते हैं। जिनकी मनुष्य कामना करते हैं, वे पदार्थ इष्ट कहलाते हैं और उनके लाभ को वे परम लाभ समझते हैं। किन्तु उन प्राप्त हुए पदार्थों की वास्तविकता पर विचार किया जाय तो पता चलेगा कि उन पदार्थों से आत्मा का किंचित् भी कल्याण नहीं होता। यही नहीं, वरन् वे पदार्थ कभी-कभी तो आत्मा का घोर अनिष्ट साधन करने वाले होते हैं। ऐसी स्थिति में सहज ही समझा जा सकता है कि सम्यक्त्व के लाभ से बढ़कर संसार में और कोई लाभ नहीं है। सम्यक्त्व उत्पन्न होते ही तीव्रतम लोभ और आसक्ति का अन्त कर देता है और फिर धीरे धीरे आत्मा को उस उच्चतम भूमिका पर प्रतिष्ठित कर देता है कि जहाँ किसी भी सांसारिक पदार्थ के लाभ की आकांक्षा ही नहीं रहती, आवश्यकता ही नहीं रहती।

सम्यक्त्व मोक्षमार्ग का प्रथम साधन कहा गया है। जब तक आत्मा को सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती, तब तक उसका समस्त आचरण, समस्त क्रियाकाण्ड और अनुष्ठान नगण्य है। आत्म-कल्याण की दृष्टि से उसका कोई मूल्य नहीं है। कहा है—

ज्ञानं दुःखनिधानमेव तपसः सन्तापमात्रं फलम्,
स्वाध्यायोऽपिहि बन्ध एव कुधिया तेऽभिग्रहाः कुग्रहाः।

भस्मान्ता खलु दानशीलसुभगा तीर्थादियात्रा वृथा
सम्यक्त्वेन विहीनमन्यदपि यत्तत्सर्वमन्तर्गडुः ॥

सम्यक्त्व के अभाव में जो भी क्रिया की जाती है, वह आत्म-कल्याण की दृष्टि से व्यर्थ ही होती है। ध्यान दुःख का निदान होता है, तप केवल संताप का जनक होता है, मिथ्यादृष्टि का स्वाध्याय निरर्थक है, उसके अभिग्रह मिथ्या आग्रह मात्र हैं। उसका दान, शील तीर्थाटन आदि सभी कुछ अगण्य है-निष्फल है-वह मोक्ष का कारण नहीं होता है।

जिस सम्यक्त्व की ऐसी महिमा है, उसकी प्रशंसा कहाँ तक की जा सकती है? प्राचीन ग्रन्थकारों ने उत्तम से उत्तम शब्दों में सम्यक्त्व की महिमा गाई है। यहाँ तक कहा गया है-

नरत्वेऽपि पशूयन्ते मिथ्यात्वग्रस्तचेतसः ।
पशुत्वेऽपि नरायन्ते सम्यक्त्वव्यक्तचेतनाः ॥

जिसका अन्तःकरण मिथ्यात्व से ग्रस्त है, वह मनुष्य होकर भी पशु के समान है और जिसकी चेतना सम्यक्त्व से निर्मल है, वह पशु हो तो भी मनुष्य के समान है।

मनुष्य और पशु में विवेक ही प्रधान विभाजक रेखा है और सच्चा विवेक सम्यक्त्व के उत्पन्न होने पर ही आता है।

वास्तव में सम्यग्दर्शन एक अपूर्व और अलौकिक ज्योति है। वह दिव्य ज्योति जब अन्तर में जगमगाने लगती है, तो अनादिकाल से आत्मा पर छाया हुआ अंधकार नष्ट हो जाता है। उस दिव्य ज्योति के प्राप्त होने पर आत्मा अपूर्व आनन्द का अनुभव करने

लगती है। उस आनन्द को न शब्दों द्वारा व्यक्त किया जा सकता है और न उपमा के द्वारा ही। उस आनन्द की आंशिक तुलना किसी जन्मान्ध को सहसा नेत्र प्राप्त हो जाने पर होने वाले आनन्द के साथ की जा सकती है। जो मनुष्य जन्म-काल से ही अंधा है और जिसने संसार के किसी पदार्थ को अपने नेत्रों मे नहीं देखा है, उसे पुण्ययोग से कदाचित् दिखाई देने लगे तो कितना आनन्द प्राप्त होगा? हम तो उस आनन्द की कल्पनामात्र कर सकते हैं। पर सम्यग्दृष्टि प्राप्त होने पर उससे भी अधिक आनन्द की अनुभूति होती है। सम्यग्दृष्टि आत्मा में समता के अद्भुत रस का संचार कर देती है। तीव्रतम राग-द्वेष के संताप को शान्त कर देती है, और इस कारण आत्मा अप्राप्तपूर्व शान्ति के निर्मल सरोवर में अवगाहन करने लगती है।

सम्यग्दृष्टि के विषय में शास्त्र में कहा है—

सम्मत्तदंसी न करेइ पावं।

—श्री आचारांग सूत्र

अर्थात् सम्यग्दृष्टि पाप नहीं करता है। चौथे गुणस्थान से लगाकर चौदहवें गुणस्थान तक के जीव सम्यग्दृष्टि माने जाते हैं और जो सम्यग्दृष्टि बन जाता है वह नवीन पाप नहीं करता है। इस प्रकार अनुत्तर धर्म की श्रद्धा से नये पाप कर्मों का बंध रुक जाता है। अनुत्तर धर्म पर श्रद्धा होने से अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया तथा लोभ नहीं रह पाते और जब अनन्तानुबन्धी क्रोध आदि नहीं रह पाते तो तत्कारणक (उनके कारण बन्धने वाले) पापकर्म नहीं बंधते। इसका कारण यह है कि कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है। कारण ही न होगा तो कार्य कैसे होगा? कारण के अभाव मे कार्य नहीं हो सकता।

अस्तामन्या रचतु दानशीलतपसां तीर्थादियात्रा वृथा,
सम्यक्त्वेन विहीनमन्यदपि यत्तत्सर्वमन्मार्गकृत् ॥

सम्यक्त्व के अभाव में जो भी क्रिया की जाती है, वह आत्म-कल्याण की दृष्टि से व्यर्थ ही होती है। ध्यान दुःख का निदान होता है, तप केवल संताप का जनक होता है मिथ्यादृष्टि का स्वाध्याय निरर्थक है, उसके अभिग्रह मिथ्या आग्रह मात्र हैं। उसका दान शील तीर्थाटन आदि सभी कृत्य नगण्य हैं निष्फल हैं— वह मोक्ष का कारण नहीं होता है।'

जिस सम्यक्त्व की ऐसी महिमा है, उसकी प्रशंसा कहाँ तक की जा सकती है? प्राचीन ग्रन्थकारों ने उत्तम से उत्तम शब्दों में सम्यक्त्व की महिमा गाई है। यहाँ तक कहा गया है—

नरत्वेऽपि पशूयन्ते, मिथ्यात्वग्रस्तचेतसः ।
पशुत्वेऽपि नरायन्ते सम्यक्त्वव्यक्तचेतनाः ॥

जिसका अन्तःकरण मिथ्यात्व से ग्रस्त है, वह मनुष्य होकर भी पशु के समान है और जिसकी चेतना सम्यक्त्व से निर्मल है, वह पशु हो तो भी मनुष्य के समान है।

मनुष्य और पशु में विवेक ही प्रधान विभाजक रेखा है और सच्चा विवेक सम्यक्त्व के उत्पन्न होने पर ही आता है।

वास्तव में सम्यग्दर्शन एक अपूर्व और अलौकिक ज्योति है। वह दिव्य ज्योति जब अन्तर में जगमगाने लगती है, तो अनादिकाल से आत्मा पर छाया हुआ अंधकार नष्ट हो जाता है। उस दिव्य ज्योति के प्राप्त होने पर आत्मा अपूर्व आनन्द का अनुभव करने

लगती है। उस आनन्द को न शब्दों द्वारा व्यक्त किया जा सकता है और न उपमा के द्वारा ही। उस आनन्द की आंशिक तुलना किसी जन्मान्ध को सहसा नेत्र प्राप्त हो जाने पर होने वाले आनन्द के साथ की जा सकती है। जो मनुष्य जन्म-काल से ही अधा है और जिसने ससार के किसी पदार्थ को अपने नेत्रो मे नहीं देखा है, उसे पुण्ययोग से कदाचित् दिखाई देने लगे तो कितना आनन्द प्राप्त होगा? हम तो उस आनन्द की कल्पनामात्र कर सकते हैं। पर सम्यग्दृष्टि प्राप्त होने पर उससे भी अधिक आनन्द की अनुभूति होती है। सम्यग्दृष्टि आत्मा में समता के अद्भुत रस का सचार कर देती है। तीव्रतम राग-द्वेष के संताप को शान्त कर देती है, और इस कारण आत्मा अप्राप्तपूर्व शान्ति के निर्मल सरोवर में अवगाहन करने लगती है।

सम्यग्दृष्टि के विषय में शास्त्र में कहा है—

सम्मत्तदसी न करेइ पावं।

—श्री आचाराग सूत्र

अर्थात् सम्यग्दृष्टि पाप नहीं करता है। चौथे गुणस्थान से लगाकर चौदहवें गुणस्थान तक के जीव सम्यग्दृष्टि माने जाते हैं और जो सम्यग्दृष्टि बन जाता है वह नवीन पाप नहीं करता है। इस प्रकार अनुत्तर धर्म की श्रद्धा से नये पाप कर्मों का बंध रुक जाता है। अनुत्तर धर्म पर श्रद्धा होने से अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया तथा लोभ नहीं रह पाते और जब अनन्तानुबन्धी क्रोध आदि नहीं रह पाते तो तत्कारणक (उनके कारण बन्धने वाले) पापकर्म नहीं बधते। इसका कारण यह है कि कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है। कारण ही न होगा तो कार्य कैसे होगा? कारण के अभाव में कार्य नहीं हो सकता।

इसी तरह कारण से ही मिथ्यात्व उत्पन्न होता है और जब मिथ्यात्व होता है तभी नये कर्मों का बन्धन भी होता है। संसार में मिथ्यात्व किस कारण से है ? इस प्रश्न के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि मिथ्यात्व का कोई न कोई कारण अवश्य है, इसीलिये मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व का कारण हट जाने पर मिथ्यात्व भी नहीं टिक सकता। जिसे जेल में जाने की इच्छा नहीं होगी वह जेल में जाने के कार्य नहीं करेगा। जो जेल जाने के काम करेगा उसे इच्छा न होने पर भी जेल जाना ही पड़ेगा। यह बात दूसरी है कि कोई जेल के योग्य काम न करे फिर भी उसे जेल जाना पड़े मगर इस प्रकार जेल जाने वालों के लिये जेल, जेल नहीं वरन् महल बन जाता है अर्थात् ऐसे लोग जेल में भी आनन्द का ही अनुभव करते हैं। इस प्रकार कारण हो तो कार्य होता ही है। अगर कोई मनुष्य कार्य का निवारण करना चाहता है तो उसे कारण का निवारण पहले करना चाहिए। इस कथन के अनुसार मिथ्यात्व को हटाने की इच्छा रखने वाले को पहले अनन्तानुबन्धी कषाय हटाना चाहिये। जिसमें यह कषाय रहेगा, उसमें मिथ्यात्व भी रहेगा। अनंतानुबन्धी कषाय जाने तो मिथ्यात्व भी नहीं रह सकेगा।

जब मिथ्यात्व नहीं रह जाता तभी 'दर्शन' की आराधना होती है। जब तक मिथ्यात्व है तब तक दर्शन की भी आराधना नहीं हो सकती। रोगी मनुष्य को चाहे जितना उत्कृष्ट भोजन दिया जाय, वह रोग के कारण शरीर को पर्याप्त लाभ नहीं पहुँचा सकता, बल्कि वह रोगी के लिये अपथ्य होने से अहितकर सिद्ध होता है। अतएव भोजन को पथ्य और हितकर बनाने के लिये सर्वप्रथम शरीर में से रोग निकालने की आवश्यकता रहती है। इसी प्रकार जब तक आत्मा में मिथ्यात्व रूपी रोग रहता है, तब तक आत्मा दर्शन की

आराधना नहीं कर सकता। जब मिथ्यात्व का कारण मिट जायगा और कारण मिटने से मिथ्यात्व मिट जायगा तभी दर्शन की आराधना भी हो सकेगी। मिथ्यात्व मिटाकर दर्शन की उत्कृष्ट आराधना करना अपने ही हाथ की बात है। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ न रहने से मिथ्यात्व भी नहीं रहेगा और जब मिथ्यात्व नहीं रहेगा तो दर्शन की आराधना भी हो सकेगी। अनन्तानुबन्धी क्रोधादि को दूर करना भी अपने ही हाथ की बात है। कषाय को दूर करने से मिथ्यात्व दूर होता है और दर्शन की आराधना होती है। विशुद्ध दर्शन की आराधना करने वाले को कोई धर्मश्रद्धा से विचलित नहीं कर सकेगा, इतना ही नहीं किन्तु जैसे अग्नि में घी की आहुति देने से अग्नि अधिक तीव्र बनती है उसी प्रकार धर्मश्रद्धा से विचलित करने का ज्यों-ज्यों प्रयत्न किया जायगा त्यों-त्यों धर्मश्रद्धा अधिक दृढ और तेजपूर्ण होती जायगी। धर्मश्रद्धा में किस प्रकार दृढ़ रहना चाहिये, इस विषय में कामदेव श्रावक का उदाहरण दिया गया है। धर्म पर दृढ श्रद्धा रखने से और दर्शन की विशुद्ध आराधना करने से आत्मा उसी भव में सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है।

२—सम्यक्त्व का स्वरूप

संसार में सभी जन सम्यग्दृष्टि रहना चाहते हैं। मिथ्या-दृष्टि कोई नहीं रहना चाहता। किसी को मिथ्यादृष्टि कहा जाय तो उसे बुरा भी लगता है। इससे सिद्ध है कि सभी लोग 'सम्यग्दृष्टि रहना चाहते हैं और वास्तव मे यह चाहना उचित भी है। मगर पहले यह समझ लेना चाहिए कि सम्यक्त्व का अर्थ क्या है? ''सम्यक्' का एक अर्थ प्रशंसा रूप है और दूसरा अर्थ अविपरीतता होता है'।

इसी तरह कारण से ही मिथ्यात्व उत्पन्न होता है और जब मिथ्यात्व होता है तभी नये कर्मों का बन्धन भी होता है। संसार में मिथ्यात्व किस कारण से है? इस प्रश्न के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि मिथ्यात्व का कोई न कोई कारण अवश्य है, इसीलिये मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व का कारण हट जाने पर मिथ्यात्व भी नहीं टिक सकता। जिसे जेल में जाने की इच्छा नहीं होगी वह जेल में जाने के कार्य नहीं करेगा। जो जेल जाने के काम करेगा उसे इच्छा न होने पर भी जेल जाना ही पड़ेगा। यह बात दूसरी है कि कोई जेल के योग्य काम न करे फिर भी उसे जेल जाना पड़े मगर इस प्रकार जेल जाने वालों के लिये जेल, जेल नहीं वरन् महल बन जाता है अर्थात् ऐसे लोग जेल में भी आनन्द का ही अनुभव करते हैं। इस प्रकार कारण हो तो कार्य होता ही है। अगर कोई मनुष्य कार्य का निवारण करना चाहता है तो उसे कारण का निवारण पहले करना चाहिए। इस कथन के अनुसार मिथ्यात्व को हटाने की इच्छा रखने वाले को पहले अनन्तानुबन्धी कषाय हटाना चाहिये। जिसमें वह कषाय रहेगा, उसमें मिथ्यात्व भी रहेगा। अनंतानुबन्धी कषाय जाय तो मिथ्यात्व भी नहीं रह सकेगा।

जब मिथ्यात्व नहीं रह जाता तभी 'दर्शन' की आराधना होती है। जब तक मिथ्यात्व है तब तक दर्शन की भी आराधना नहीं हो सकती। रोगी मनुष्य को चाहे जितना उत्कृष्ट भोजन दिया जाय, वह रोग के कारण शरीर को यथोचित लाभ नहीं पहुँचा सकता, बल्कि वह रोगी के लिये अपथ्य होने से अहितकर सिद्ध होता है। अतएव भोजन को पथ्य और हितकर बनाने के लिये सर्वप्रथम शरीर में से रोग निकालने की आवश्यकता रहती है। इसी प्रकार जब तक आत्मा में मिथ्यात्व रूपी रोग रहता है, तब तक आत्मा दर्शन की

आराधना नहीं कर सकता। जब मिथ्यात्व का कारण मिट जायगा और कारण मिटने से मिथ्यात्व मिट जायगा तभी दर्शन की आराधना भी हो सकेगी। मिथ्यात्व मिटाकर दर्शन की उत्कृष्ट आराधना करना अपने ही हाथ की बात है। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ न रहने से मिथ्यात्व भी नहीं रहेगा और जब मिथ्यात्व नहीं रहेगा तो दर्शन की आराधना भी हो सकेगी। अनन्तानुबन्धी क्रोधादि को दूर करना भी अपने ही हाथ की बात है। कषाय को दूर करने से मिथ्यात्व दूर होता है और दर्शन की आराधना होती है। विशुद्ध दर्शन की आराधना करने वाले को कोई धर्मश्रद्धा से विचलित नहीं कर सकेगा, इतना ही नहीं किन्तु जैसे अग्नि में घी की आहुति देने से अग्नि अधिक तीव्र बनती है उसी प्रकार धर्मश्रद्धा से विचलित करने का ज्यों-ज्यों प्रयत्न किया जायगा त्यों-त्यों धर्मश्रद्धा अधिक दृढ और तेजपूर्ण होती जायगी। धर्मश्रद्धा में किस प्रकार दृढ रहना चाहिये, इस विषय में कामदेव श्रावक का उदाहरण दिया गया है। धर्म पर दृढ श्रद्धा रखने से और दर्शन की विशुद्ध आराधना करने से आत्मा उसी भव में सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है।

२—सम्यक्त्व का स्वरूप

संसार में सभी जन सम्यग्दृष्टि रहना चाहते हैं। मिथ्या-दृष्टि कोई नहीं रहना चाहता। किसी को मिथ्यादृष्टि कहा जाय तो उसे बुरा भी लगता है। इससे सिद्ध है कि सभी लोग 'सम्यग्दृष्टि रहना चाहते हैं और वास्तव में यह चाहना उचित भी है। मगर पहले यह समझ लेना चाहिए कि सम्यक्त्व का अर्थ क्या है? 'सम्यक्' का एक अर्थ प्रशंसा रूप है और दूसरा अर्थ अविपरीतता होता है।

इसी तरह कारण से ही मिथ्यात्व उत्पन्न होता है और जब मिथ्यात्व होता है तभी नये कर्मों का बन्धन भी होता है। संसार में मिथ्यात्व किस कारण से है ? इस प्रश्न के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि मिथ्यात्व का कोई न कोई कारण अवश्य है, इसीलिये मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व का कारण हट जाने पर मिथ्यात्व भी नहीं टिक सकता। जिस जेल में जाने की इच्छा नहीं होगी वह जेल में जाने के कार्य नहीं करेगा। जो जेल जाने के काम करेगा उसे इच्छा न होने पर भी जेल जाना ही पड़ेगा। यह बात दूसरी है कि कोई जेल के योग्य काम न करे फिर भी उसे जेल जाना पड़े मगर इस प्रकार जेल जाने वालों के लिये जेल जेल नहीं वरन् महल बन जाता है अर्थात् ऐसे लोग जेल में भी आनन्द का ही अनुभव करते हैं। इस प्रकार कारण हो तो कार्य होता ही है। अगर कोई मनुष्य कार्य का निवारण करना चाहता है तो उसे कारण का निवारण पहले करना चाहिए। इस कथन के अनुसार मिथ्यात्व को हटाने की इच्छा रखने वाले को पहले अनन्तानुबन्धी कषाय हटाना चाहिये। जिसमें यह कषाय रहेगा, उसमें मिथ्यात्व भी रहेगा। अनंतानुबन्धी कषाय जाय तो मिथ्यात्व भी नहीं रह सकेगा।

जब मिथ्यात्व नहीं रह जाता तभी 'दर्शन' की आराधना होती है। जब तक मिथ्यात्व है तब तक दर्शन की भी आराधना नहीं हो सकती। रोगी मनुष्य को चाहे जितना उत्कृष्ट भोजन दिया जाय, वह रोग के कारण शरीर को पर्याप्त लाभ नहीं पहुँचा सकता, बल्कि वह रोगी के लिये अपथ्य होने से अहितकर सिद्ध होता है। अतएव भोजन को पथ्य और हितकर बनाने के लिये सर्वप्रथम शरीर में से रोग निकालने की आवश्यकता रहती है। इसी प्रकार जब तक आत्मा में मिथ्यात्व रूपी रोग रहता है, तब तक आत्मा दर्शन की

आराधना नहीं कर सकता। जब मिथ्यात्व का कारण मिट जायगा और कारण मिटने से मिथ्यात्व मिट जायगा तभी दर्शन की आराधना भी हो सकेगी। मिथ्यात्व मिटाकर दर्शन की उत्कृष्ट आराधना करना अपने ही हाथ की बात है। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ न रहने से मिथ्यात्व भी नहीं रहेगा और जब मिथ्यात्व नहीं रहेगा तो दर्शन की आराधना भी हो सकेगी। अनन्तानुबन्धी क्रोधादि को दूर करना भी अपने ही हाथ की बात है। कषाय को दूर करने से मिथ्यात्व दूर होता है और दर्शन की आराधना होती है। विशुद्ध दर्शन की आराधना करने वाले को कोई धर्मश्रद्धा से विचलित नहीं कर सकेगा, इतना ही नहीं किन्तु जैसे अग्नि में घी की आहुति देने से अग्नि अधिक तीव्र बनती है उसी प्रकार धर्मश्रद्धा से विचलित करने का ज्यों-ज्यों प्रयत्न किया जायगा त्यों-त्यों धर्मश्रद्धा अधिक दृढ और तेजपूर्ण होती जायगी। धर्मश्रद्धा में किस प्रकार दृढ रहना चाहिये, इस विषय में कामदेव श्रावक का उदाहरण दिया गया है। धर्म पर दृढ श्रद्धा रखने से और दर्शन की विशुद्ध आराधना करने से आत्मा उसी भव में सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है।

२—सम्यक्त्व का स्वरूप

संसार में सभी जन सम्यग्दृष्टि रहना चाहते हैं। मिथ्या-दृष्टि कोई नहीं रहना चाहता। किसी को मिथ्यादृष्टि कहा जाय तो उसे बुरा भी लगता है। इससे सिद्ध है कि सभी लोग 'सम्यग्दृष्टि रहना चाहते हैं और वास्तव में यह चाहना उचित भी है। मगर पहले यह समझ लेना चाहिए कि सम्यक्त्व का अर्थ क्या है? 'सम्यक्' का एक अर्थ प्रशंसा रूप है और दूसरा अर्थ अविपरीतता होता है'।

इसी तरह कारण से ही मिथ्यात्व उत्पन्न होता है और जब मिथ्यात्व होता है तभी नये कर्मों का बन्धन भी होता है। संसार में मिथ्यात्व किस कारण से है? इस प्रश्न के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि मिथ्यात्व का कोई न कोई कारण अवश्य है, इसीलिये मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व का कारण हट जाने पर मिथ्यात्व भी नहीं टिक सकता। जिसे जेल में जाने की इच्छा नहीं होगी, वह जेल में जाने के कार्य नहीं करेगा। जो जेल जाने के काम करेगा उसे इच्छा न होने पर भी जेल जाना ही पड़ेगा। यह बात दूसरी है कि कोई जेल के योग्य काम न करे फिर भी उसे जेल जाना पड़े मगर इस प्रकार जेल जाने वालों के लिये जेल जेल नहीं वरन् महल बन जाता है अर्थात् ऐसे लोग जेल में भी आनन्द का ही अनुभव करते हैं। इस प्रकार कारण हो तो कार्य होता ही है। अगर कोई मनुष्य कार्य का निवारण करना चाहता है तो उसे कारण का निवारण पहले करना चाहिए। इस कथन के अनुसार मिथ्यात्व को हटाने की इच्छा रखने वाले को पहले अनन्तानुबन्धी कषाय हटाना चाहिये। जिसमें यह कषाय रहेगा, उसमें मिथ्यात्व भी रहेगा। अनंतानुबन्धी कषाय जाय तो मिथ्यात्व भी नहीं रह सकेगा।

जब मिथ्यात्व नहीं रह जाता तभी 'दर्शन' की आराधना होती है। जब तक मिथ्यात्व है तब तक दर्शन की भी आराधना नहीं हो सकती। रोगी मनुष्य को चाहे जितना उत्कृष्ट भोजन दिया जाय, वह रोग के कारण शरीर को यथायोग्य लाभ नहीं पहुँचा सकता, बल्कि वह रोगी के लिये अपथ्य होने से अहितकर सिद्ध होता है। अतएव भोजन को पथ्य और हितकर बनाने के लिये सर्वप्रथम शरीर में से रोग निकालने की आवश्यकता रहती है। इसी प्रकार जब तक आत्मा में मिथ्यात्व रूपी रोग रहता है, तब तक आत्मा दर्शन की

मिट जायगी। जब पदार्थों की वास्तविकता का भान होता है और विपरीतता मिट जाती है तभी सम्यग्दृष्टिपन प्रकट होता है।' सीप दूर से चांदी मालूम होती थी, किन्तु पास जाने से वह सीप मालूम होने लगी। सीप में सीपपन तो पहले भी मौजूद था परन्तु दूरी के कारण ही सीप में विपरीतता प्रतीत होती थी और वह चांदी मालूम हो रही थी। पास जाकर देखने से विपरीतता दूर हो गई और उसकी वास्तविकता जान पड़ने लगी। इस तरह वस्तु के पास जाने से और भलीभांति परीक्षण करने से वस्तु के विषय में ज्ञान की विपरीतता दूर होती है तथा वास्तविकता मालूम होती है और तभी जीव सम्यग्दृष्टि बनता है।

सीप की भाँति अन्य पदार्थों के विषय में भी विपरीतता मालूम होने लगती है। पदार्थों के विषय में विपरीतता किस प्रकार हो रही है इस विषय में शास्त्र में कहा है—'जीवे अजीवसन्ना, अजीवे जीवसन्ना' 'अर्थात् जीव को अजीव और अजीव को जीव समझना, इत्यादि दस प्रकार के मिथ्यात्व हैं। कहा जा सकता है कि कौन ऐसा मनुष्य होगा जो जीव को अजीव मानता हो? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जीव को अजीव मानने वाले बहुत से लोग हैं। कुछ का कहना है कि 'जो कुछ है, यह शरीर ही है। शरीर से भिन्न आत्मा नहीं है। यह शरीर पाँच भूतों से बना है और जब पाँचों भूतों का सयोग नष्ट हो जाता है तो शरीर भी नष्ट हो जाता है। इस प्रकार जीव-आत्मा को न मानने वाले भी हैं। यह भी एक प्रकार का ज्ञान है, किन्तु है यह मिथ्याज्ञान। जीव में अजीव की स्थापना करने का कारण यही है कि ऐसी स्थापना करने वाले लोग अभी तक सम्यग्ज्ञान से दूर हैं। जब वह सम्यग्ज्ञान के समीप आएँगे तो, जैसे समीप जाने से सीप में चांदी का मिथ्याज्ञान मिट

यद्यपि सच्चा सम्यक्त्व अविपरीतता में ही है पर शास्त्रकार यशस्वी कार्य भी समकित में ही गिनते हैं।

विपरीत का अर्थ उलटा और अविपरीत का अर्थ सीधा-जैसा का तैसा, होता है। जो वस्तु जैसी है उसे उसी रूप में देखना अविपरीतता है, और उल्टे रूप में देखना विपरीतता है। उदाहरणार्थ—किसी ने सीप देखी। वास्तव में वह सीप है फिर भी अगर कोई उसे चांदी समझता है तो उसका ज्ञान विपरीत है। काठियावाड़ में विचरते समय मैंने मृगमरीचिका देखी। वह ऐसी दिखाई देती थी मानों जल से भरा हुआ समुद्र हो। उसमें वृक्ष वगैरह की परछाई भी दिखाई देती है। ऐसा होने पर भी मृगमरीचिका को जल समझ लेना विपरीतता है।

जैसे यह विपरीतता बाह्य-पदार्थों के विषय में है उसी प्रकार आध्यात्मिक विषय में भी विपरीतता होती है। शास्त्रोक्त वचन समझ कर जो सम्यग्दृष्टि होगा वह विचार करेगा कि अगर मैंने वस्तु का जैसे का तैसा स्वरूप न समझा तो फिर मैं सम्यग्दृष्टि ही कैसा?

सीप जब कुछ दूरी पर होती है तो उसकी चमचमाहट देखकर चांदी समझ ली जाती है। अगर उसके पास जाकर देखे तो कोई सीप को चांदी मान सकता है? नहीं। इसी प्रकार संसार के पदार्थ जब तक मोह की दृष्टि से देखे जाते हैं, तब तक वह जिस रूप में माने जाते हैं उसी रूप में दिखाई देते हैं किन्तु अगर पदार्थों के मूल स्वरूप की परीक्षा की जाय तो वह रम्य नहीं प्रतीत होंगे, बल्कि एक दूसरे रूप में दिखाई देंगे। जब पदार्थों की वास्तविकता समझ में आ जायगी तब उनके सम्बन्ध में उत्पन्न होने वाली विपरीतता

पद का वाच्य अवश्य होता है। 'आत्मा' पद समासरहित है अत उसका वाच्य आत्मा पदार्थ अवश्य होना चाहिए। उदाहरण के तौर पर 'शशशृंग' पद बोला जाता है। 'शशशृंग' का अर्थ है खरगोश का सींग। यह समासयुक्त पद है। इसका वाच्य कोई पदार्थ नहीं है। मगर 'शश' और 'शृंग' शब्दों को अलग-अलग कर दिया जाय तो दोनों का अस्तित्व है। शश अर्थात् खरगोश और शृंग अर्थात् सींग, दोनों ही जगत् में विद्यमान हैं। जैसे 'शशशृंग' नहीं होता उसी प्रकार 'आकाशपुष्प' भी नहीं होता। ऐसा होने पर भी अगर दोनों समस्त-समासयुक्त पद अलग-अलग कर दिए जाएँ तो दोनों का ही अस्तित्व प्रतीत होता है। इससे भलीभांति सिद्ध है कि जितने भी समासरहित व्युत्पन्न पद हैं उनके वाच्य पदार्थ का सद्भाव अवश्य होता है। 'आत्मा' पद भी समासरहित है, अतएव उसका वाच्य आत्मा पदार्थ भी अवश्य है। हाथी, घोड़ा, घट, पट आदि जितने असामासिक पद हैं, उन सब के वाच्यों का अस्तित्व सिद्ध है तो फिर अकेले आत्मा का अस्तित्व क्यों नहीं होगा ?

यह हुई जीव में अजीव के आरोप की बात। इसी प्रकार अजीव में भी जीव का आरोप किया जाता है। उदाहरणार्थ-कुछ लोगों का कहना है कि आत्मा एक ही है और जैसे पानी से भरे ों घड़ों में एक ही चन्द्रमा दिखाई देता है, उसी प्रकार यह एक त्मा सब में व्याप्त है। मगर यह कथन भ्रमपूर्ण है यहाँ उदा- या गया है कि एक ही चन्द्रमा हजारों घड़ों में दिखाई ठीक है, किन्तु चन्द्रमा पूर्णिमा का होगा तो सभी ही चन्द्र दिखाई देगा और अष्टमी का होगा तो दिखाई देगा। अगर एक ही आत्मा चन्द्रमा

जाता है, उसी प्रकार आत्मा सम्बन्धी मिथ्याज्ञान भी मिट जायगा। उस समय सही आत्मा का भान होगा।

पुराने लोग, जो आधुनिक शिक्षा से प्रभावित नहीं हुए हैं, आत्मा मानते हैं, किन्तु आधुनिक शिक्षा के रंग में रंगे हुए अनेक लोग आत्मा का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करते। जैसे दूर रहने के कारण मृगजल, जल समझ लिया जाता है और सीप, चांदी मान ली जाती है, उसी प्रकार जीवतत्त्व से दूर रहने के कारण ही लोग जीव को अजीव मान रहे हैं। अगर वह जीवतत्त्व के निकट पहुँचे तो उन्हें प्रतीत होगा कि वह भ्रमवश जिसे अजीव मान रहे थे, वह अजीव नहीं, जीव है।

'आत्मा नहीं है' यह कथन ही आत्मा की सिद्धि करता है। उदाहरणार्थ—अंधेरे में रस्सी सांप जान पड़ती है। किन्तु इस प्रकार का भ्रम तभी हो सकता है जब कि सांप का अस्तित्व है। सांप का कहीं अस्तित्व न होता तो सांप का भ्रम भी कैसे हो सकता था? जिसने जल देखा है वही मृगजल में जल की कल्पना कर सकता है, जिसने कभी कहीं जल का अनुभव नहीं किया वह मृग जल देखकर जल की कल्पना ही नहीं कर सकता। इसी प्रकार आत्मा नहीं है, यह कथन भी आत्मा का अस्तित्व ही सिद्ध करता है। आत्मा का अस्तित्व न होता तो उसका नाम ही कहाँ से आता, और उसके निषेध की आवश्यकता ही क्यों थी?

आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करने का एक कारण यह है कि संसार में जितने भी समासहीन पद हैं, उन सब पदों के वाच्य पदार्थ भी अवश्य होते हैं। जो पद समासयुक्त हैं उनका वाच्य पदार्थ कदाचित् नहीं भी होता मगर जिस पद में समास नहीं होता उस

पद का वाच्य अवश्य होता है। 'आत्मा' पद समासरहित है अत उसका वाच्य आत्मा पदार्थ अवश्य होना चाहिए। उदाहरण के तौर पर 'शशशृंग' पद बोला जाता है। 'शशशृंग' का अर्थ है खरगोश का सींग। यह समासयुक्त पद है। इसका वाच्य कोई पदार्थ नहीं है। मगर 'शश' और 'शृंग' शब्दों को अलग-अलग कर दिया जाय तो दोनों का अस्तित्व है। शश अर्थात् खरगोश और शृंग अर्थात् सींग, दोनों ही जगत् में विद्यमान हैं। जैसे 'शशशृंग' नहीं होता उसी प्रकार 'आकाशपुष्प' भी नहीं होता। ऐसा होने पर भी अगर दोनों समस्त-समासयुक्त पद अलग-अलग कर दिए जाएँ तो दोनों का ही अस्तित्व प्रतीत होता है। इससे भलीभांति सिद्ध है कि जितने भी समासरहित व्युत्पन्न पद हैं उनके वाच्य पदार्थ का सद्भाव अवश्य होता है। 'आत्मा' पद भी समासरहित है, अतएव उसका वाच्य आत्मा पदार्थ भी अवश्य है। हाथी, घोड़ा, घट, पट आदि जितने असामासिक पद हैं, उन सब के वाच्यों का अस्तित्व सिद्ध है तो फिर अकेले आत्मा का अस्तित्व क्यों नहीं होगा ?

यह हुई जीव में अजीव के आरोप की बात। इसी प्रकार अजीव में भी जीव का आरोप किया जाता है। उदाहरणार्थ-कुछ लोगों का कहना है कि आत्मा एक ही है और जैसे पानी से भरे हजारों घड़ों में एक ही चन्द्रमा दिखाई देता है, उसी प्रकार यह एक ही आत्मा सब में व्याप्त है। मगर यह कथन भ्रमपूर्ण है यहाँ उदाहरण मे बतलाया गया है कि एक ही चन्द्रमा हजारों घड़ों में दिखाई देता है, यह तो ठीक है, किन्तु चन्द्रमा पूर्णिमा का होगा तो सभी घड़ों में पूर्णिमा का ही चन्द्र दिखाई देगा और अष्टमी का होगा तो अष्टमी का ही सबमें दिखाई देगा। मगर एक ही आत्मा चन्द्रमा

पद का वाच्य अवश्य होता है। 'आत्मा' पद समासरहित है अत उसका वाच्य आत्मा पदार्थ अवश्य होना चाहिए। उदाहरण के तौर पर 'शशशृंग' पद बोला जाता है। 'शशशृंग' का अर्थ है खरगोश का सींग। यह समासयुक्त पद है। इसका वाच्य कोई पदार्थ नहीं है। मगर 'शश' और 'शृंग' शब्दों को अलग-अलग कर दिया जाय तो दोनों का अस्तित्व है। शश अर्थात् खरगोश और शृंग अर्थात् सींग, दोनों ही जगत् मे विद्यमान हैं। जैसे 'शशशृंग' नहीं होता उसी प्रकार 'आकाशपुष्प' भी नहीं होता। ऐसा होने पर भी अगर दोनों समस्त-समासयुक्त पद अलग-अलग कर दिए जाएँ तो दोनों का ही अस्तित्व प्रतीत होता है। इससे भलीभांति सिद्ध है कि जितने भी समासरहित व्युत्पन्न पद हैं उनके वाच्य पदार्थ का सद्भाव अवश्य होता है। 'आत्मा' पद भी समासरहित है, अतएव उसका वाच्य आत्मा पदार्थ भी अवश्य है। हाथी, घोड़ा, घट, पट आदि जितने असामासिक पद हैं, उन सब के वाच्यो का अस्तित्व सिद्ध है तो फिर अकेले आत्मा का अस्तित्व क्यों नहीं होगा ?

यह हुई जीव में अजीव के आरोप की बात। इसी प्रकार अजीव में भी जीव का आरोप किया जाता है। उदाहरणार्थ-कुछ लोगों का कहना है कि आत्मा एक ही है और जैसे पानी से भरे हजारों घड़ों में एक ही चन्द्रमा दिखाई देता है, उसी प्रकार यह एक ही आत्मा सब में व्याप्त है। मगर यह कथन भ्रमपूर्ण है यहाँ उदाहरण में बतलाया गया है कि एक ही चन्द्रमा हजारों घड़ों में दिखाई देता है, यह तो ठीक है, किन्तु चन्द्रमा पूर्णिमा का होगा तो सभी घड़ों में पूर्णिमा का ही चन्द्र दिखाई देगा और अष्टमी का होगा तो अष्टमी का ही सबमें दिखाई देगा। मगर एक ही आत्मा चन्द्रमा

जाता है, उसी प्रकार आत्मा सम्बन्धी मिथ्याज्ञान भी मिट जायगा। उस समय उन्हें आत्मा का भान होगा।

पुराने लोग, जो आधुनिक शिक्षा से प्रभावित नहीं हुए हैं, आत्मा मानते हैं, किन्तु आधुनिक शिक्षा के रंग में रंगे हुए अनेक लोग आत्मा का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करते। जैसे दूर रहने के कारण मृगजल, जल समझ लिया जाता है और सीप, चांदी मान ली जाती है, उसी प्रकार आत्मतत्त्व से दूर रहने के कारण ही लोग जीव को अजीव मान लेते हैं। अगर वह जीवतत्त्व के निकट पहुँचें तो उन्हें प्रतीत होगा कि वह भ्रमवश जिसे अजीव मान रहे थे, वह अजीव नहीं, जीव है।

'आत्मा नहीं है' यह कथन ही आत्मा की सिद्धि करता है उदाहरणार्थ—अंधेरे में रस्सी सांप जान पड़ती है। किन्तु इस प्रकार का भ्रम तभी हो सकता है जब कि सांप का अस्तित्व है। सांप का कहीं अस्तित्व न होता तो सांप का भ्रम भी कैसे हो सकता था? जिसने जल देखा है वही मृगजल में जल की कल्पना कर सकता है, जिसने कभी कहीं जल का अनुभव नहीं किया वह मृगजल देखकर जल की कल्पना ही नहीं कर सकता। इसी प्रकार आत्मा नहीं है -यह कथन भी आत्मा का अस्तित्व ही सिद्ध करता है। आत्मा का अस्तित्व न होता तो उसका नाम ही कहाँ से आता, और उसके निषेध की आवश्यकता ही क्यों थी?

आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करने का एक कारण यह है कि संसार में जितने भी समासहीन पद हैं, उन सब पदों के वाच्य पदार्थ भी अवश्य होते हैं। जो पद समासयुक्त हैं उनका वाच्य पदार्थ कदाचित् नहीं भी होता मगर जिस पद में समास नहीं होता उस

पद का वाच्य अवश्य होता है। 'आत्मा' पद समासरहित है अत उसका वाच्य आत्मा पदार्थ अवश्य होना चाहिए। उदाहरण के तौर पर 'शशशृंग' पद बोला जाता है। 'शशशृंग' का अर्थ है खरगोश का सींग। यह समासयुक्त पद है। इसका वाच्य कोई पदार्थ नहीं है। मगर 'शश' और 'शृंग' शब्दों को अलग-अलग कर दिया जाय तो दोनों का अस्तित्व है। शश अर्थात् खरगोश और शृंग अर्थात् सींग, दोनों ही जगत् मे विद्यमान हैं। जैसे 'शशशृंग' नहीं होता उसी प्रकार 'आकाशपुष्प' भी नहीं होता। ऐसा होने पर भी अगर दोनों समस्त-समासयुक्त पद अलग-अलग कर दिए जाएँ तो दोनों का ही अस्तित्व प्रतीत होता है। इससे भलीभांति सिद्ध है कि जितने भी समासरहित व्युत्पन्न पद हैं उनके वाच्य पदार्थ का सद्भाव अवश्य होता है। 'आत्मा' पद भी समासरहित है, अतएव उसका वाच्य आत्मा पदार्थ भी अवश्य है। हाथी, घोड़ा, घट, पट आदि जितने असामासिक पद हैं, उन सब के वाच्यो का अस्तित्व सिद्ध है तो फिर अकेले आत्मा का अस्तित्व क्यों नही होगा ?

यह हुई जीव में अजीव के आरोप की बात। इसी प्रकार अजीव में भी जीव का आरोप किया जाता है। उदाहरणार्थ-कुछ लोगों का कहना है कि आत्मा एक ही है और जैसे पानी से भरे हजारों घड़ों में एक ही चन्द्रमा दिखाई देता है, उसी प्रकार यह एक ही आत्मा सब में व्याप्त है। मगर यह कथन भ्रमपूर्ण है यहाँ उदाहरण में बतलाया गया है कि एक ही चन्द्रमा हजारों घड़ों में दिखाई देता है, यह तो ठीक है, किन्तु चन्द्रमा पूर्णिमा का होगा तो सभी घड़ों में पूर्णिमा का ही चन्द्र दिखाई देगा और अष्टमी का होगा तो अष्टमी का ही सबमें दिखाई देगा। मगर एक ही आत्मा चन्द्रमा

जाता है, उसी प्रकार आत्मा सम्बन्धी मिथ्याज्ञान भी मिट जायगा। उस समय सच्चे आत्मा का भान होगा।

पुराने लोग, जो आधुनिक शिक्षा से प्रभावित नहीं हुए हैं आत्मा मानते हैं, किन्तु आधुनिक शिक्षा के रंग में रंगे हुए अनेक लोग आत्मा का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करते। जैसे दूर रहने के कारण मृगजल, जल समझ लिया जाता है और सीप, चांदी मान ली जाती है, उसी प्रकार आवरण से दूर रहने के कारण ही लोग जीव को अजीव मान रहे हैं। अगर वह जीवतत्त्व के निकट पहुँचें तो उन्हें प्रतीत होगा कि वह भ्रमवश जिसे अजीव मान रहे थे, वह अजीव नहीं, जीव है।

'आत्मा नहीं है' यह कथन ही आत्मा की सिद्धि करता है। उदाहरणार्थ—अंधेरे में रस्सी सांप जान पड़ती है। किन्तु इस प्रकार का भ्रम तभी हो सकता है जब कि सांप का अस्तित्व है। सांप का कहीं अस्तित्व न होता तो सांप का भ्रम भी कैसे हो सकता था? जिसने जल देखा है वही मृगजल में जल की कल्पना कर सकता है, जिसने कभी कहीं जल का अनुभव नहीं किया वह मृगजल देखकर जल की कल्पना ही नहीं कर सकता। इसी प्रकार आत्मा नहीं है, यह कथन भी आत्मा का अस्तित्व ही सिद्ध करता है। आत्मा का अस्तित्व न होता तो उसका नाम ही कहाँ से आता, और उसके निषेध की आवश्यकता ही क्यों थी?

आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करने का एक कारण यह है कि संसार में जितने भी समासहीन पद हैं, उन सब पदों के वाच्य पदार्थ भी अवश्य होते हैं। जो पद समासयुक्त हैं उनका वाच्य पदार्थ कदाचित् नहीं भी होता मगर जिस पद में समास नहीं होता उस

पद का वाच्य अवश्य होता है। 'आत्मा' पद समासरहित है अत उसका वाच्य आत्मा पदार्थ अवश्य होना चाहिए। उदाहरण के तौर पर 'शशशृंग' पद बोला जाता है। 'शशशृंग' का अर्थ है खरगोश का सींग। यह समासयुक्त पद है। इसका वाच्य कोई पदार्थ नहीं है। मगर 'शश' और 'शृंग' शब्दों को अलग-अलग कर दिया जाय तो दोनों का अस्तित्व है। शश अर्थात् खरगोश और शृंग अर्थात् सींग, दोनों ही जगत् में विद्यमान हैं। जैसे 'शशशृंग' नहीं होता उसी प्रकार 'आकाशपुष्प' भी नहीं होता। ऐसा होने पर भी अगर दोनों समस्त-समासयुक्त पद अलग-अलग कर दिए जाएँ तो दोनों का ही अस्तित्व प्रतीत होता है। इससे भलीभांति सिद्ध है कि जितने भी समासरहित व्युत्पन्न पद हैं उनके वाच्य पदार्थ का सद्भाव अवश्य होता है। 'आत्मा' पद भी समासरहित है, अतएव उसका वाच्य आत्मा पदाथ भी अवश्य है। हाथी, घोडा, घट, पट आदि जितने असामासिक पद हैं, उन सब के वाच्यों का अस्तित्व सिद्ध है तो फिर अकेले आत्मा का अस्तित्व क्यों नहीं होगा ?

यह हुई जीव में अजीव के आरोप की बात। इसी प्रकार अजीव में भी जीव का आरोप किया जाता है। उदाहरणार्थ--कुछ लोगों का कहना है कि आत्मा एक ही है और जैसे पानी से भरे हजारों घड़ों में एक ही चन्द्रमा दिखाई देता है, उसी प्रकार यह एक ही आत्मा सब में व्याप्त है। मगर यह कथन भ्रमपूर्ण है यहाँ उदाहरण में बतलाया गया है कि एक ही चन्द्रमा हजारों घड़ों में दिखाई देता है, यह तो ठीक है, किन्तु चन्द्रमा पूर्णिमा का होगा तो सभी घड़ों में पूर्णिमा का ही चन्द्र दिखाई देगा और अष्टमी का होगा तो अष्टमी का ही सबमें दिखाई देगा। मगर एक ही आत्मा चन्द्रमा

जाता है, उसी प्रकार आत्मा सम्बन्धी मिथ्याज्ञान भी मिट जायगा। उस समय उन्हें आत्मा का भान होगा।

पुराने लोग, जो आधुनिक शिक्षा से प्रभावित नहीं हुए हैं, आत्मा मानते हैं, किन्तु आधुनिक शिक्षा के रंग में रंगे हुए अनेक लोग आत्मा का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करते। जैसे दूर रहने के कारण मृगजल जल समझ लिया जाता है और सीप, चांदी मान ली जाती है, उसी प्रकार जीवतत्त्व से दूर रहने के कारण ही लोग जीव को अजीव मान लेते हैं। अगर वह जीवतत्त्व के निकट पहुँचें तो उन्हें प्रतीत होगा कि वह भ्रमवश जिसे अजीव मान रहे थे, वह अजीव नहीं, जीव है।

'आत्मा नहीं है' यह कथन ही आत्मा की सिद्धि करता है। उदाहरणार्थ—अंधेरे में रस्सी सांप जान पड़ती है। किन्तु इस प्रकार का भ्रम तभी हो सकता है जब कि सांप का अस्तित्व है। सांप का कहीं अस्तित्व न होता तो सांप का भ्रम भी कैसे हो सकता था? जिसने जल देखा है वही मृगजल में जल की कल्पना कर सकता है जिसने कभी कहीं जल का अनुभव नहीं किया वह मृग जल देखकर जल की कल्पना ही नहीं कर सकता। इसी प्रकार आत्मा नहीं है, यह कथन भी आत्मा का अस्तित्व ही सिद्ध करता है। आत्मा का अस्तित्व न होता तो उसका नाम ही कहाँ से आता, और उसके निषेध की आवश्यकता ही क्यों थी?

आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करने का एक कारण यह है कि संसार में जितने भी समासहीन पद हैं, उन सब पदों के वाच्य पदार्थ भी अवश्य होते हैं। जो पद समासयुक्त हैं उनका वाच्य पदार्थ कदाचित् नहीं भी होता मगर जिस पद में समास नहीं होता उस

दयाभाव न हो तो यही कहा जायगा कि सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हुआ है जिसमें सम्यक्त्व होगा उसमें दयाभाव अवश्य होगा। सम्यक्त्व के साथ दयाभाव का अविनाभावी सम्बन्ध है।

३—दर्शनसम्पन्नता

गौतम स्वामी ने दर्शन के विषय में भगवान् से प्रश्न किया है—

प्रश्न—दंसणसंपन्नयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—दंसणसंपन्नयाए णं भवमिच्छत्तछेयणं करेइ, परं न विज्झायइ, परं अविज्झमाणे अणुत्तरेणं नाणदंसणेणं अप्पाणं संजोएमाणे सम्मं भावेमाणे विहरइ ॥६०॥

अर्थात्

प्रश्न—भगवन् ! दर्शन प्राप्त करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—गौतम ! दर्शनसम्पन्न (सम्यग्दृष्टि) जीव संसार के मूल मिथ्यात्व अज्ञान का छेदन करता है। उसके ज्ञान का प्रकाश बुझता नहीं है और उस प्रकाश में श्रेष्ठ ज्ञान तथा दर्शन से अपने आत्मा को संयोजित करके सुन्दर भावनापूर्वक विचरता है।

भगवान् ने दर्शनसम्पन्नता से मिथ्यात्व का नाश होना बतलाया है। परन्तु मिथ्यात्व का नाश तो क्षयोपशम सम्यक्त्व से भी होता है, फिर दर्शनसम्पन्नता से विशेष लाभ क्या हुआ ? इसका उत्तर यह है कि जैसे खुली हवा में रक्खे हुए दीपक के बुझ जाने का

की तरह सब शरीरों में व्याप्त होती तो क्या विविधता दिखाई देती है वह दिखाई न देती। कोई बुद्धिमान् दिखाई देता है, कोई बुद्धिहीन। कोई दुखी है कोई सुखी है मगर एक ही आत्मा सर्वत्र व्याप्त होती तो यह विविधता क्यों दिखाई देती ?

इस प्रकार वस्तु की ठीक तरह परीक्षा करने से विपरीत भ्रान्ति मिट जाती है और विपरीतता मिटते ही सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है।

साधारणतया सभी लोग ऐसा मानते हैं कि निश्चय में सभी का आत्मा समान है। परन्तु व्यवहार करते समय मानों यह बात भुला ही दी जाती है। 'मित्ती मे सव्वभूएसु' अर्थात् समस्त प्राणियों पर मेरा मैत्रीभाव है इस प्रकार का पाठ तो बोला जाता है, मगर जब कोई गरीब दुखी या भिखारी द्वार पर आता है तब इस सिद्धान्त का पालन कितना होता है यह देखना चाहिए। तुम्हें सम्यक्त्व प्राप्त हुआ होगा तो तुम उस भिखारी या दुखी मनुष्य को भी अपना मित्र मानोगे और उसे सुखी बनाने का प्रयत्न करोगे। इसके विपरीत अगर तुम अपने सगे-सम्बन्धी की रक्षा के लिए दौड़े जाओ परन्तु अपरिचित गरीब की रक्षा के लिए प्रयत्न न करो तो कहा जायगा कि अभी तुम्हारे अन्तःकरण में सच्चा करुणाभाव उत्पन्न नहीं हुआ है। तुम्हारे हृदय में सम्यक्त्व होगा तो उसकी रक्षा करने का दयाभाव भी अवश्य होगा। यह सम्भव नहीं कि सम्यक्त्व हो किन्तु दयाभाव न हो। अगर कोई कहे कि सोना तो है मगर पीला नहीं है तो उससे यही कहा जायगा कि जो ऐसा है वह सच्चा सोना ही नहीं है। इसी प्रकार जिसमें चिकनापन नहीं है वह घी ही नहीं है। वह और कोई चीज होगी। इसी प्रकार हृदय में

दयाभाव न हो तो यही कहा जायगा कि सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हुआ है जिसमे सम्यक्त्व होगा उसमें दयाभाव अवश्य होगा। सम्यक्त्व के साथ दयाभाव का अविनाभावी सम्बन्ध है।

३—दर्शनसम्पन्नता

गौतम स्वामी ने दर्शन के विषय मे भगवान् से प्रश्न किया है-

प्रश्न—दसणसंपन्नयाए ण भते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—दसणसपन्नयाए णं भवमिच्छत्तछेयणं करेइ, परं न विज्झायइ, पर अविज्झमाणे अणुत्तरेण नाणदंसणेण अप्पाणं संजोएमाणे सम्म भावेमाणे विहरइ ॥६०॥

अर्थात्

प्रश्न—भगवन् ! दर्शन प्राप्त करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—गौतम ! दर्शनसम्पन्न (सम्यग्दृष्टि) जीव ससार के मूल मिथ्यात्व अज्ञान का छेदन करता है। उसके ज्ञान का प्रकाश बुझता नहीं है और उस प्रकाश में श्रेष्ठ ज्ञान तथा दर्शन से अपने आत्मा को सयोजित करके सुन्दर भावनापूर्वक विचरता है।

भगवान् ने दर्शनसम्पन्नता से मिथ्यात्व का नाश होना बतलाया है। परन्तु मिथ्यात्व का नाश तो क्षयोपशम सम्यक्त्व से भी होता है, फिर दर्शनसम्पन्नता से विशेष लाभ क्या हुआ ? इसका उत्तर यह है कि जैसे खुली हवा में रक्खे हुए दीपक के बुझ जाने का

की तरह सब शरीरों में व्याप्त होती तो जो विविधता दिखाई देती है वह दिखाई न देती। कोई बुद्धिमान् दिखाई देता है, कोई बुद्धिहीन। कोई दुखी है, कोई सुखी है मगर एक ही आत्मा सर्वत्र व्याप्त होती तो यह विविधता क्यों दिखाई देती ?

इस प्रकार वस्तु की ठीक तरह परीक्षा करने से विपरीतता-भ्रांति मिट जाती है और विपरीतता मिटते ही सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है।

साधारणतया सभी लोग ऐसा मानते हैं कि निश्चय में सभी का आत्मा समान है। परन्तु व्यवहार करते समय मानों यह बात भुला दी जाती है। 'मित्ती मे सव्वभूएसु' अर्थात् समस्त प्राणियों पर मेरा मैत्रीभाव है इस प्रकार का पाठ तो बोला जाता है, मगर जब कोई गरीब दुखी या भिखारी द्वार पर आता है तब इस सिद्धान्त का पालन कितना होता है यह देखना चाहिए। तुम्हें सम्यक्त्व प्राप्त हुआ होगा तो तुम उस भिखारी या दुखी मनुष्य को भी अपना मित्र मानोगे और उसे सुखी बनाने का प्रयत्न करोगे। इसके विपरीत अगर तुम अपने सगे-सम्बन्धी की रक्षा के लिए दौड़े जाओ परन्तु अपरिचित गरीब की रक्षा के लिए प्रयत्न न करो तो कहा जायगा कि अभी तुम्हारे अन्तःकरण में सच्चा करुणाभाव उत्पन्न नहीं हुआ है। तुम्हारे हृदय में सम्यक्त्व होगा तो सबकी रक्षा करने का दयाभाव भी अवश्य होगा। यह सम्भव नहीं कि सम्यक्त्व हो किन्तु दयाभाव न हो। अगर कोई कहे कि सोना तो है मगर पीला नहीं है तो उससे यही कहा जायगा कि जो ऐसा है वह सच्चा सोना ही नहीं है। इसी प्रकार जिसमें चिकनापन नहीं है वह घी ही नहीं है। वह और कोई चीज होगी। इसी प्रकार हृदय में

४—सम्यक्त्व के भेद

सम्यक्त्व के तीन भेद हैं :—(१) उपशम गुण से प्राप्त होने वाला (२) क्षयोपशम गुण से प्राप्त होने वाला और (३) क्षायिक गुण से प्रकट होने वाला सम्यक्त्व। इन तीनों प्रकार के सम्यक्त्वों में कितना अन्तर है, यह बात पानी का उदाहरण देकर समझाई जाती है। एक पानी ऐसा होता है जो मलीन होता है परन्तु दवा डालने से उसका मल नीचे जम गया है। दूसरे प्रकार का पानी ऐसा होता है कि वह ऊपर से तो स्वच्छ दिखाई देता है परन्तु उसमें मैल साफ नजर आता है। तीसरे प्रकार का पानी वह है जो पहले मलीन था किन्तु उसका मैल नीचे बैठ जाने पर निर्मल पानी नितार कर अलग कर लिया गया है। इस तीसरे प्रकार के पानी के फिर मलीन होने की सम्भावना नहीं है। इसी प्रकार मिथ्यात्व के विपाक में शान्त हो किन्तु प्रदेश में उदयाधीन रहता हो, वह क्षयोपशम से प्राप्त सम्यक्त्व कहलाता है। मिथ्यात्व का उदय जब प्रदेश और विपाक—दोनो से शान्त हो तब उपशम सम्यक्त्व होता है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से औपशमिक सम्यक्त्व अच्छा है। तीसरा सम्यक्त्व क्षायिक है। जब मिथ्यात्व प्रदेश और उदय—दोनों से पृथक हो गया हो अर्थात् मिथ्यात्व किसी भी प्रदेश में अथवा उदय में न रहे तब क्षायिक सम्यक्त्व होता है।

शास्त्रों में श्रावक के लिए बारह व्रतों का विधान है। वे व्रत तो पालन करने योग्य हैं ही, परन्तु उनका मूल सम्यक्त्व है। जैसे मूल के अभाव में शाखाएँ नहीं ठहरतीं, उसी प्रकार सम्यक्त्व के अभाव में व्रत नहीं ठहरते।

भय रहता है, इसी प्रकार क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के नष्ट होने का भी भय बना रहता है। क्षायिक सम्यक्त्व के लिए यह भय नहीं है। इसी कारण भगवान् ने अपने उत्तर में 'पर' शब्द का प्रयोग करके यह सूचित किया है कि दर्शनसम्पन्नता से मिथ्यात्व का पूर्ण नाश होता है और वह क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है जिसके नाश होने का भय ही नहीं रहता। दर्शनसम्पन्नता से जीव को मिथ्यात्व के नाश के साथ क्षायिक सम्यक्त्व की भी प्राप्ति होती है।

संसार-भ्रमण का प्रधान कारण मिथ्यात्व ही है। कारण के बिना कार्य नहीं होता। संसार भ्रमणरूप कार्य का कारण मिथ्यात्व है। दर्शनसम्पन्नता मिथ्यात्व का नाश करती है और कारण के अभाव में कार्य किस प्रकार हो सकता है? जो वस्तु जैसी है उससे विपरीत मानना ही मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व का छेद हो जाने से संसार भ्रमण भी नहीं करना पड़ता।

मिथ्यात्व संसार का कारण है और सम्यक्त्व मोक्ष का कारण है। दर्शनसम्पन्न व्यक्ति मिथ्यात्व का छेदन करके क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करता है। क्षायिक सम्यक्त्व वाला पुरुष या तो उसी भव में मोक्ष प्राप्त करता है या भवस्थिति अधिक होने पर अधिक से अधिक तीन भव में केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त करता है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन तो उत्पन्न होकर नष्ट भी हो जाता है किन्तु क्षायिक सम्यग्दर्शन एक बार उत्पन्न होने के पश्चात् फिर नष्ट नहीं होता। क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होने से परम ज्ञान और परम दर्शन प्राप्त करके दर्शनसम्पन्न व्यक्ति, आनन्दपूर्वक क्षायिक ज्ञान-दर्शन में रमण करता है।

४—सम्यक्त्व के भेद

सम्यक्त्व के तीन भेद हैं :—(१) उपशम गुण से प्राप्त होने वाला (२) क्षयोपशम गुण से प्राप्त होने वाला और (३) क्षायिक गुण से प्रकट होने वाला सम्यक्त्व। इन तीनों प्रकार के सम्यक्त्वों में कितना अन्तर है, यह बात पानी का उदाहरण देकर समझाई जाती है। एक पानी ऐसा होता है जो मलीन होता है परन्तु दवा डालने से उसका मल नीचे जम गया है। दूसरे प्रकार का पानी ऐसा होता है कि वह ऊपर से तो स्वच्छ दिखाई देता है परन्तु उसमें मैल साफ नजर आता है। तीसरे प्रकार का पानी वह है जो पहले मलीन था किन्तु उसका मैल नीचे बैठ जाने पर निर्मल पानी नितार कर अलग कर लिया गया है। इस तीसरे प्रकार के पानी के फिर मलीन होने की सम्भावना नहीं है। इसी प्रकार मिथ्यात्व के विपाक मे शान्त हो किन्तु प्रदेश में उदयाधीन रहता हो, वह क्षयोपशम से प्राप्त सम्यक्त्व कहलाता है। मिथ्यात्व का उदय जब प्रदेश और विपाक—दोनो से शान्त हो तब उपशम सम्यक्त्व होता है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से औपशमिक सम्यक्त्व अच्छा है। तीसरा सम्यक्त्व क्षायिक है। जब मिथ्यात्व प्रदेश और उदय—दोनों से पृथक हो गया हो अर्थात् मिथ्यात्व किसी भी प्रदेश में अथवा उदय में न रहे तब क्षायिक सम्यक्त्व होता है।

शास्त्रों में श्रावक के लिए बारह व्रतों का विधान है। वे व्रत तो पालन करने योग्य हैं ही, परन्तु उनका मूल सम्यक्त्व है। जैसे मूल के अभाव में शाखाएँ नहीं ठहरतीं, उसी प्रकार सम्यक्त्व के अभाव में व्रत नहीं ठहरते।

४—सम्यक्त्व के भेद

सम्यक्त्व के तीन भेद हैं :—(१) उपशम गुण से प्राप्त होने वाला (२) क्षयोपशम गुण से प्राप्त होने वाला और (३) क्षायिक गुण से प्रकट होने वाला सम्यक्त्व। इन तीनों प्रकार के सम्यक्त्वों में कितना अन्तर है, यह बात पानी का उदाहरण देकर समझाई जाती है। एक पानी ऐसा होता है जो मलीन होता है परन्तु दवा डालने से उसका मल नीचे जम गया है। दूसरे प्रकार का पानी ऐसा होता है कि वह ऊपर से तो स्वच्छ दिखाई देता है परन्तु उसमें मैल साफ नजर आता है। तीसरे प्रकार का पानी वह है जो पहले मलीन था किन्तु उसका मैल नीचे बैठ जाने पर निर्मल पानी नितार कर अलग कर लिया गया है। इस तीसरे प्रकार के पानी के फिर मलीन होने की सम्भावना नहीं है। इसी प्रकार मिथ्यात्व के विपाक से शान्त हो किन्तु प्रदेश में उदयाधीन रहता हो, वह क्षयोपशम से प्राप्त सम्यक्त्व कहलाता है। मिथ्यात्व का उदय जब प्रदेश और विपाक—दोनों से शान्त हो तब उपशम सम्यक्त्व होता है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से औपशमिक सम्यक्त्व अच्छा है। तीसरा सम्यक्त्व क्षायिक है। जब मिथ्यात्व प्रदेश और उदय—दोनों से पृथक हो गया हो अर्थात् मिथ्यात्व किसी भी प्रदेश में अथवा उदय में न रहे तब क्षायिक सम्यक्त्व होता है।

शास्त्रों में श्रावक के लिए बारह व्रतों का विधान है। वे व्रत तो पालन करने योग्य हैं ही, परन्तु उनका मूल सम्यक्त्व है। जैसे मूल के अभाव में शाखाएँ नहीं ठहरतीं, उसी प्रकार सम्यक्त्व के अभाव में व्रत नहीं ठहरते।

श्रावक और श्रमणोपासक

१—श्रावक की व्याख्या

जैन परम्परा में श्रावक शब्द बहुत प्रसिद्ध है। उसका प्रयोग आम तौर पर जैन गृहस्थ के लिए किया जाता है। जो व्यक्ति जैन कुल में उत्पन्न हुआ है, वह श्रावक कहलाता है, ऐसी रूढ़ि-सी हो गई है। मगर श्रावक कहलाने वाले पर कुछ दायित्व है, उसके कुछ कर्त्तव्य भी हैं, इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। अतएव यहाँ श्रावक शब्द का अर्थ स्पष्ट करने के लिए उसकी व्याख्या कर देना आवश्यक है। कहा है—

> श्रद्धालुतां श्राति शृणोति शासनम्,
> दानं वपेदाशु वृणोति दर्शनम्।
> कृन्तत्यपुण्यानि करोति संयमम्,
> तं श्रावकं प्राहुरमी विचक्षणाः॥

'श्रावक' शब्द में तीन अक्षर हैं और उन तीनों से श्रावक के अलग-अलग कर्त्तव्यों का बोध होता है। पहले अक्षर 'श्रा' से यह अभिप्राय निकलता है कि श्रावक को जिन वचन में दृढ़ श्रद्धा धारण करनी चाहिए और साधुसमाचारी श्रावकसमाचारी और तीर्थंकर भगवान् की वाणी को श्रवण करना चाहिए।

साधु की समाचारी सुने बिना गुरु का निर्णय नहीं हो सकता और श्रावक की समाचारी सुने बिना अपने कर्त्तव्य का ज्ञान नहीं हो सकता। समाचारी का अर्थ है-कर्त्तव्य कार्य। साधु और श्रावक के शास्त्रविहित कर्त्तव्यों को श्रद्धा के साथ सुनना श्रावक शब्द में रहे हुए 'श्रा' अक्षर का अर्थ है।

सुनना दो प्रकार का है-एक श्रद्धापूर्वक और दूसरा मनोरंजन के लिए या शुभ बुद्धि से प्रेरित होकर। अर्थात् एक गुण दृष्टि से और दूसरा दोष दृष्टि से। दोष दृष्टि से सुनने वाला यह सोच कर सुनता है कि देखूं वक्ता कहाँ चूकता है? कहाँ पकड़ में आता है? इस प्रकार दोष खोजने की बुद्धि से सुनना श्रावक का कर्त्तव्य नहीं है। श्रावक तो श्रद्धाशील होकर विश्वास पूर्वक सुनता है। यह ठीक है कि श्रावक अपनी बुद्धि और विचारशक्ति पर ताला लगा कर सुनने नहीं बैठता। अगर कोई बात उसे शास्त्रसंगत प्रतीत न हो तो वह तर्क वितर्क करेगा और बिना समझे बूझे नहीं मान लेगा, फिर भी उसकी दृष्टि छिद्रान्वेषण करने की नहीं होगी। वह इस अभिप्राय से सुनने नहीं बैठेगा।

साधु पहले अपनी समाचारी-श्रावकों को सुना देगा और कहेगा कि इसे शास्त्र से मिला लो। फिर हमें साधु मानो। इसलिए कालिकसूत्र में कहा है—

नाणदसणसंपन्नं, सजमे य तवे रय।
गणिमागमसपन्नं, उज्जाणम्मि समोसढ ।
रायाणो रायमच्चा य, माहणा अदुव खत्तिश्रा ।
पुच्छति निहुअप्पाणो, कह मे आयारगोयरो ॥

दश. वै. अ ६, १-२

अर्थात् ज्ञान और दर्शन से सम्पन्न तथा संयम और तप में निरत आचार्य जब किसी नगर के उद्यान में पधारते हैं, तो राजा राजमन्त्री, ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय आदि पूछते हैं कि आपका आचार क्या है ?

आज आचार-विचार को पूछने की प्रथा उड गई है और इस कारण साधुओं में भी शिथिलता आगई है और जब साधु ही अपनी समाचारी का दृढतापूर्वक पालन न करेंगे तो श्रावक कब करेंगे ? फिर किसी पर किसी का दबाव कहाँ रहेगा । स्थिति यह आजायेगी कि साधु मौज करेंगे और गृहस्थों को मंत्र तंत्र आदि बतला दिया करेंगे और गृहस्थ भी मत्र-तत्र पाने की इच्छा से ही उनकी भक्ति करेंगे । फिर तो यही उक्ति चरितार्थ होगी—

लोभी गुरु लालची चेला, हिलमिल खेलें दाव।
दोनों डूबें वापडे, चढ पत्थर की नाव ॥

अचार की सिद्धि से ही धर्म की सिद्धि होती है, यह सर्व-मान्य वात है । अतएव समाचारी का सुनना आवश्यक है । साधु-समाचारी शास्त्रानुमोदित होने पर श्रावक को श्रद्धाशील बनना चाहिए और यह निश्चय करना चाहिए कि यह हमारे गुरु है ।

हमारे गुरु वही मनन योग्य हैं जो शास्त्रविहित समाचारी को हमारे सामने खोल कर रख देते हैं और उसी के अनुसार आचरण करते हैं। तात्पर्य यह है कि श्रावक का प्रथम कर्त्तव्य यह है कि वह साधुसमाचारी एवं श्रावकसमाचारी का श्रद्धापूर्वक श्रवण करे और वीतराग की वाणी पर सम्पूर्ण श्रद्धा रक्खे।

'श्रावक' शब्द में दूसरा अक्षर 'व' है। इसका अभिप्राय है- पुण्य-कार्य में बिना विलम्ब किये दान दे और अपने दर्शन को दिपावे।

आज लोग प्रायः अपना बड़प्पन दिखलाने के लिए और अपने बाप-दादा की एवं अपनी कीर्त्ति और प्रसिद्धि के लिए तो द्रव्य खर्च कर देते हैं किन्तु जब किसी धार्मिक कार्य के लिए द्रव्य का त्याग करने का अवसर आता है तो कहने लगते हैं-यह मेरे अकेले का काम नहीं है। सब करें तो मैं भी करूँ। मैं अकेला ही क्यों खर्च करूँ ? इस प्रकार कहना और करना श्रावकपन का लक्षण नहीं है। श्रावक को उत्साहपूर्वक जिनधर्म की महिमा बढ़ाना चाहिए, और उसके लिए आवश्यकतानुसार द्रव्य की ममता का भी त्याग करना चाहिए। यही 'व' अक्षर का अर्थ है।

श्रावक' शब्द में तीसरा अक्षर 'क' है। इसका अभिप्राय यह है कि श्रावक पाप को काटे अर्थात् अधर्म में प्रवृत्ति न करे और ऐसा यत्न करे, जिससे शुभ कार्य हो सकें और व्रत तथा संयम निभ सके।

'श्रावक' शब्द के तीनों अक्षरों में समाविष्ट कर्त्तव्यों का पालन करने वाला सुविहित श्रावक कहलाता है। बाकी तीर्थंकर

की आज्ञा पालने वाला श्रावक कहलाता है। वह गृहस्थाश्रम में रहता हुआ भी इहलोक और परलोक मे सुख प्राप्त करने वाला होता है।

कहा जा सकता है कि धर्म से परलोक मे सुख मिलता है, यह तो ठीक है, परन्तु इहलोक मे सुख मिलता है, यह कैसे माना जाय ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि तप-संयम आदि धर्म का आचरण शुद्ध आत्मकल्याण की भावना से ही करना चाहिए, न इस लोक के सुख के लोभ से और न परलोक के सुख की लालसा से। फिर भी इसका अर्थ यह नहीं है कि धर्म से इस लोक या परलोक में सुख नहीं मिलता। ऐसा कोई नियम नहीं कि सुख की लालसा से धर्माचरण किया जाय तो सुख प्राप्त हो और सुख की लालसा न रक्खी जाय तो सुख न मिले। बल्कि सुख की लालसा रखने से धर्म का लोकोत्तर फल मारा जाता है। जो कार्य किया जायगा, उसका फल तो मिलने वाला ही है, फिर उसके उत्कृष्ट फल का विघात करके साधारण फल की कामना करने से क्या लाभ है ? तात्पर्य यह है कि धर्माचरण लौकिक सुख की कामना से प्रेरित होकर न किया जाय, फिर भी उससे लौकिक सुख प्राप्त होता है, यह सत्य है।

भगवती सूत्र में तुंगिया नगरी के श्रावकों का वर्णन आया है। वहाँ वे लोग भगवान् की वन्दना करने के लिए जाने का संकल्प करते हैं। उस समय यह कथन है:—

भगवान् को की गई वन्दना हमारे लिए इस लोक में तथा परलोक में हितकारी सुखकारी, क्षमा के योग्य बनाने वाली और मोक्ष देने वाली होगी तथा भव-भव में साथ चलने वाली होगी।

इस पाठ से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि श्रावकधर्म का पालन करने से लौकिक और लोकोत्तर-दोनों प्रकार के सुख की प्राप्ति होती है।

२ श्रमणोपासक की व्याख्या

श्रावक के लिए 'श्रमणोपासक' शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। श्रमणोपासक बनने की मर्यादा क्या है, यह बात शास्त्र में बतलाई गई है। शास्त्र में कहा है—

'तस्स समणोवासओ पुव्वामेव मिच्छत्ताओ पडिक्कमइ सम्मत्तं उवसंपज्जइ नो से कप्पइ अज्जप्पभिइ अन्नउत्थिए वा अन्नउत्थिय देवयाणि वा अन्नउत्थियपरिग्गहियाइं अरिहंतचेइयाणि वा वंदित्तए वा नमंसित्तए वा।

इस पाठ का ठीक-ठीक अभिप्राय समझने के लिए श्रमण' शब्द का अर्थ समझ लेने की आवश्यकता है। यों तो श्रमण का साधारण अर्थ साधु है, परन्तु दुनिया में साधु कहलाने वालों के सैकड़ों प्रकार देखे जाते हैं। प्राचीन काल में भी सैकड़ों प्रकार के साधु थे और आज भी हैं। अतएव 'साधु' कह देने से किसी निश्चित अर्थ का बोध नहीं होता। लोग गड़बड़ और भ्रम में पड़ जाते हैं। अतएव शास्त्र में श्रमण या साधु की भलीभाँति पहचान भी बतला

दी गई है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि पचयामिक धर्म का अर्थात् पाच महाव्रतों का पालन करने वाला ही श्रमण या साधु कहला सकता है। वे पाँच महाव्रत इस प्रकार हैं—

१—प्राणातिपात का सर्वथा त्याग

२—असत्य का सर्वथा त्याग

३—अदत्तादान का सर्वथा त्याग

४—मनुष्य, देव और तिर्यञ्च सम्बन्धी कामभोग का सर्वथा त्याग।

५—धर्मोपकरणों के सिवाय अन्य सब पदार्थों का त्याग।

इस प्रकार मन, वचन और काय से तथा कृत, कारित और अनुमोदन से पाँचों पापो का त्याग करने वाला श्रमण पद का अधिकारी है।

साथ ही—

लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा ।
समो निन्दापसंसासु, तहा माणावमाणओ ॥

उत्तराध्ययन, अ० १६

अर्थात्-भिक्षा के लाभ में और अलाभ मे, सुख में और दुःख में, जीवन और मरण में निन्दा और प्रशंसा में तथा मान और अपमान में साधु का समभाव होता है।

साधु किसी भी परिस्थिति में समभाव को त्याग कर विषम भाव में प्रवेश नहीं करता। भिक्षा के लिए गृहस्थ के घर में प्रवेश करते समय उसकी जैसी आकृति होती है, वैसी ही बाहर निकलते

समय भी। अर्थात् भिक्षा मिल गई तो हर्ष नहीं और न मिली और भिक्षा के बदले गाली मिली तो विषाद नहीं। शरीर चाहे सुख में हो या दुःख में हो, श्रमण अपने आनन्द में मग्न रहता है। चिरकाल तक जीवित रहे तब भी आनन्द और मृत्यु आ जाय तब भी आनन्द। वे न जीने की इच्छा रखते हैं, न मृत्यु से घबराते हैं। उनके लिए निन्दा और प्रशंसा समान है। प्रशंसा सुन कर हर्ष का और निन्दा सुन कर विषाद का अनुभव नहीं करते। कोई नमस्कार करे तो क्या और तिरस्कार करे तो क्या, उनकी वृत्ति में कुछ अन्तर नहीं पड़ता। ऐसे गुण जिसमें पाये जाएँ वही श्रमण कहलाता है और श्रमण का उपासक 'श्रमणोपासक' या श्रावक कहलाता है।

'श्रमण' शब्द 'श्रम्' धातु से बना है। इसका अर्थ है-श्रम करना। यह शब्द इस आशय को प्रकट करता है कि व्यक्ति अपना विकास अपने ही श्रम द्वारा कर सकता है। व्यक्ति अपने सुख दुःख और उत्थान-पतन के लिए स्वयं ही उत्तरदायी है। कोई भी दूसरा व्यक्ति या कोई भी शक्ति किसी दूसरे को सुखी या दुःखी नहीं बना सकती।

प्राकृत रूप 'समण' का अर्थ 'समन' भी होता है। 'समन' का अर्थ है समता भाव। अर्थात् समन (समण-श्रमण) वह है, जो प्राणी मात्र को आत्मवत् समझता है। कहा है—

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

अर्थात्-जो व्यवहार या बर्ताव तुम अपने लिए पसन्द नहीं करते हो वह दूसरों के प्रति भी मत करो। जो बात तुम्हें बुरी लगती है, वह सभी प्राणियों को बुरी लगती है।

यह नीति-तत्त्व जिसके जीवन में व्यावहारिक बन गया है, वही वास्तव में श्रमण या समन पद का अधिकारी है। यह नीति-तत्त्व ही समाज-विज्ञान का मूल आधार है। वही समाज सुख और शान्ति का भागी हो सकता है, जिसका प्रत्येक सदस्य इस तत्त्व का अपने जीवन में अनुसरण करता है।

'समण' का तीसरा रूप 'शमन' भी होता है। 'शमन' का अर्थ है-अपनी चित्तवृत्तियों को शान्त करना, मन के विकारों को दबाना या दूर करना।

गभीर विचार करने से ज्ञात होगा कि व्यक्ति तथा समाज का कल्याण श्रम, सम और शम, इन तीनों तत्त्वों पर आश्रित है। यही श्रमण संस्कृति का निचोड़ है। और भी कहा है:-

जह मम न पिय दुक्ख, जाणिय एमेव सव्वजीवाणं।
न हणइ न हणावेइ य, सममणइ तेण सो समणो ॥१॥

'अण्' धातु बर्त्ताव करने के अर्थ में है और 'सम्' उपसर्ग तुल्यार्थक है। तात्पर्य यह हुआ कि जो सब प्राणियों के प्रति सम अर्थात् समानरूप से 'अणति' अर्थात् बर्त्ताव करता है, वह समण या श्रमण कहलाता है।

णत्थि य से कोइ वेसो, पिओ अ सव्वेसु चेव जीवेसु।
एएण होइ समणो, एसो अन्नो वि पज्जाओ ॥ २ ॥

अर्थात्-श्रमण वह है जिसके लिए न तो कोई अप्रिय है और न प्रिय है-जिसके लिए कीड़ी और कुँजर सब समान हैं।

तो समणो जइ सुमणो, भावेण जइ ण होइ पावमणो ।
सयणे य जणे य समो, समो य माणावमाणेसु ॥२॥

अर्थात्—जो 'सुमन' है, वही वास्तव में श्रमण है। 'सुमन' से अभिप्राय यह है कि वह पाप-मना न हो—उसके मन के किसी भी कोने में पाप का वास न हो और स्व तथा पर जन में तथा मान और अपमान में समान भाव रखता हो।

भगवान् महावीर ने श्रमण की जो परिभाषा बतलाई है, उसीसे मिलती जुलती परिभाषा तथागत बुद्ध ने भी बतलाई है। वह कहते हैं—

न वि मुण्डएण समणो समभाए समणो होई।
न मुण्डकेन समणो अब्बतो अलिकं भणं।
इच्छालोभसमापन्नो समणो किं भविस्सति।
यो च समेति पापानि अणुंथूलानि सब्बसो।
समितत्ताहि पापानं समणो ति पवुच्चई॥

आशय यही है कि सिर मुंडा लेने मात्र से कोई श्रमण नहीं कहलाता, बल्कि समताभाव धारण करने से ही श्रमण का पद प्राप्त किया जा सकता है। जो व्रतविहीन है, मिथ्याभाषण करता है कामनाओं से और लोभ से घिरा हुआ है, वह श्रमण नहीं कहला सकता। सच्चा श्रमण वही है जो छोटे और बड़े समस्त पापों से दूर हट जाता है।

इन गुणों को समझ लेने मात्र से न कोई विशिष्ट लाभ होता है और न कोई श्रमण ही कहला सकता है। इन्हें समझकर जो—

आचरण में लाना है, वही इन गुणों का पूरा लाभ उठाता है और वही श्रमण कहलाने का अधिकारी होता है। किसी कन्या को उसकी माता ने रसोई बनाना सिखला दिया, पर कन्या सीखी हुई रसोई बनाने की विधि को कार्यरूप में परिणत न कर सकी तो सीखी हुई विधि किस काम की?

श्रमणोपासक श्रमण की उपासना इसलिए करता है कि श्रमण में समभाव है, उच्च आचार है और श्रमणोपासक इन गुणों को प्राप्त करना चाहता है। उपासक में उपास्य का गुण आ ही जाता है। अतएव जो समभाव चाहते होंगे वे समभाव वाले श्रमण को नमस्कार करेंगे और जिन्हें धन-दौलत आदि विषमभाव की कामना होगी, वे यंत्र-मंत्र आदि बतलाने वाले की उपासना करेंगे। लेकिन यंत्र मंत्र बतलाने वाले की उपासना करने वाला श्रमणोपासक नहीं, वह तो मायोपासक है।

प्रत्येक कार्य का कुछ न कुछ उद्देश्य होता है। बिना उद्देश्य कोई बुद्धिमान् प्रवृत्ति नहीं करता। घर से आप बिना उद्देश्य निकल पड़ें और इधर-उधर भटकते फिरें। किसी के पूछने पर कोई उद्देश्य न बतला सकें तो बावले समझे जाएँगे। इसलिए जो जिस कार्य में प्रवृत्त होता है, उसे कुछ न कुछ उद्देश्य रखना ही पड़ता है और जो जैसा उद्देश्य रखता है, उसे आगे-पीछे सफलता भी प्राय मिल ही जाती है। भाजी लाने के उद्देश्य से, घर से निकला व्यक्ति भाजी तक पहुँच जाता है। इसी प्रकार अगर आप समभाव रखने वाले गुरु के पास पहुँचने के उद्देश्य से निकले हैं तो ऐसे गुरु को खोज ही लेंगे।

तो समणो जइ सुमणो, भावेण जइ ण होइ पावमणो ।
सयणे य जणे य समो, समो य माणावमाणेसु ॥२॥

अर्थात्—जो 'सुमन' है वही वास्तव में श्रमण है। 'सुमन' से अभिप्राय यह है कि वह पाप-मना न हो—उसके मन के किसी भी कोने में पाप का वास न हो और स्व तथा पर जन में तथा मान और अपमान में समान भाव रखता हो।

भगवान महावीर ने श्रमण की जो परिभाषा बतलाई है, उसीसे मिलती जुलती परिभाषा तथागत बुद्ध ने भी बतलाई है। वह कहते हैं —

न वि मुंडएण समणो, समभावेण समणो होई।
न मुण्डकेन समणो, अब्बतो अलिकं भणं ।
इच्छालोभसमापन्नो समणो किं भविस्सति ।
यो च समेति पापानि अणुथूलानि सब्बसो ।
समितत्ता हि पापानं समणो ति पवुच्चई ॥

आशय यही है कि सिर मुंडा लेने मात्र से कोई श्रमण नहीं कहलाता, बल्कि समताभाव धारण करने से ही श्रमण का पद प्राप्त किया जा सकता है। जो व्रतविहीन है, मिथ्याभाषण करता है कामनाओं से और लोभ से घिरा हुआ है, वह श्रमण नहीं कहला सकता। सच्चा श्रमण वही है जो छोटे और बड़े समस्त पापों से दूर हट जाता है।

इन गुणों को समझ लेने मात्र से न कोई विशिष्ट लाभ होता है और न कोई श्रमण ही कहला सकता है। इन्हें समझकर जो

आचरण में लाता है, वही इन गुणों का पूरा लाभ उठाता है और वही श्रमण कहलाने का अधिकारी होता है। किसी कन्या को उसकी माता ने रसोई बनाना सिखला दिया, पर कन्या सीखी हुई रसोई बनाने की विधि को कार्यरूप मे परिणत न कर सकी तो सीखी हुई विधि किस काम की ?

श्रमणोपासक श्रमण की उपासना इसलिए करता है कि श्रमण में समभाव है, उच्च आचार है और श्रमणोपासक इन गुणों को प्राप्त करना चाहता है। उपासक मे उपास्य का गुण आ ही जाता है। अतएव जो समभाव चाहते होंगे वे समभाव वाले श्रमण को नमस्कार करेंगे और जिन्हें धन-दौलत आदि विषमभाव की कामना होगी, वे यन्त्र-मन्त्र आदि बतलाने वाले की उपासना करेंगे। लेकिन यन्त्र मन्त्र बतलाने वाले की उपासना करने वाला श्रमणोपासक नहीं, वह तो मायोपासक है।

प्रत्येक कार्य का कुछ न कुछ उद्देश्य होता है। विना उद्देश्य कोई बुद्धिमान प्रवृत्ति नही करता। घर से आप विना उद्देश्य निकल पड़ें और इधर-उधर भटकते फिरें। किसी के पूछने पर कोई उद्देश्य न बतला सकें तो बावले समझे जाएँगे। इसलिए जो जिस कार्य में प्रवृत्त होता है, उसे कुछ न कुछ उद्देश्य रखना ही पड़ता है और जो जैसा उद्देश्य रखता है, उसे आगे-पीछे सफलता भी प्राय मिल ही जाती है। भाजी लाने के उद्देश्य से, घर से निकला व्यक्ति भाजी तक पहुँच जाता है। इसी प्रकार अगर आप समभाव रखने वाले गुरु के पास पहुँचने के उद्देश्य से निकले हैं तो ऐसे गुरु को खोज ही लेंगे।

आप कहेंगे—संत तो कंचन-कंकर को समान समझते हैं और हम ऐसा नहीं समझते हमें कंचन की चाह बनी है। फिर संतों की उपासना क्यों करें? ऐसा सोचने वाला और कहने वाला सच्चा श्रावक नहीं है। सच्चे श्रावक के अन्तःकरण में श्रमणोचित समभाव की आकांक्षा रहती है और वह ऐसा मनोरथ किया करता है कि कब वह सुदिन होगा जब मैं संसार के प्रपंच त्यागकर अनगारवृत्ति धारण करूँगा। अभिप्राय यह है कि आखिर तो श्रावक भी उसी ध्येय पर पहुँचना चाहता है जिसकी यह भावना होगी कि 'मैं कभी न कभी सोने और पत्थर को समान समझूँ' वह ऐसे सन्तों की उपासना करेगा।

श्रावक, व्यक्ति या वेष का उपासक नहीं होता, किन्तु साधुता का उपासक होता है। अतएव उसे 'श्रमणोपासक' कहा है।

कहा जा सकता है कि श्रावक को 'श्रमणोपासक' कहने के बदले अर्हन्तोपासक क्यों नहीं कह दिया? साधुओं की परीक्षा में तो कदाचित् गड़बड़ भी हो सकती है। यदि अर्हन्तोपासक कह दिया होता तो किसी प्रकार का झगड़ा ही न रहता।

इसका उत्तर यह है कि उपास्य प्रत्यक्ष हो तो ही उसकी उपासना हो सकती है। उपास्य और उपासक के मिलने पर ही उपासना संभव है। तीर्थंकर कहलाने वाले अर्हन्त चौबीस ही होते हैं और व किसी काल में विद्यमान रहते हैं और किसी काल में विद्यमान नहीं रहते। मगर साधु के विषय में यह बात नहीं है। श्रावक है तो साधु भी है और साधु है तो श्रावक भी है। साधु और श्रावक का साहचर्य है।

इस प्रकार अर्हन्त की साक्षात उपासना सदा नहीं हो सकती, क्योंकि अर्हन्त सदा काल नहीं रहते और जब तक साक्षात् उपासना न की जाय तब तक ठीक-ठीक अर्थ मे वह उपासक नहीं है। पर श्रावक, साधु की उपासना सदैव कर सकते है। इसी कारण श्रावक को श्रमणोपासक कहा है। इसीलिए सम्यक्त्व ग्रहण करते समय साधु को ही गुरु बनाना पडता है।

प्रश्न होता है कि साधु और श्रावक का साहचर्य मान लिया जाय तो अढाई द्वीप क बाहर साधु नहीं होते, फिर वहाँ के तिर्यञ्च श्रावक क्या श्रावक नहीं हैं? इसका उत्तर यह है कि अढाई द्वीप के बाहर साधु नहीं होते, यह ठीक है, पर जातिस्मरण ज्ञान वाले जीव होते हैं। वे पूर्वभावप्रज्ञापननय की अपेक्षा साधु हैं। इसके सिवाय जहाँ साधु नहीं होते, वहाँ कई व्रत श्रद्धारूप ही रहते है, स्पर्शना रूप नहीं होते। उदाहरण के लिए साधुओं के अभाव मे बारहवाँ व्रत अतिथिसविभाग कैसे निपज सकता है? इस प्रकार अढाई द्वीप के बाहर श्रद्धारूप व्रत ही होते हैं।

'श्रमणोपासक' शब्द भी छोटा नहीं है। श्रमणोपासक को भी नियम लेकर उनका पालन करना पड़ता है। और खान-पान की ऐसी शुद्धि रखनी पडती है, जिससे घर पर आये हुए साधुओं को खाली न जाना पड़े। यों तो साधु अश्रावक के घर से भी आहार-पानी ले लेते हैं, फिर भी श्रावक को तो भोजन का विचार रखना ही चाहिए। श्रावक को मद्य, मास आदि अभक्ष्य पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिए। आज साधु भी श्रावको की खुशामद में पड गये है। इस कारण श्रावकों ने भी अपने नियमों का पालन करना कम कर दिया है। साधुओं में भी मान-प्रतिष्ठा की भूख जाग उठी

है। मगर शास्त्र कहता है कि साधुओं को वन्दना-नमस्कार की भी चाह नहीं होनी चाहिए।

श्रमणोपासक साधु में गुण देखेगा तो वन्दना करेगा ही। अन्यथा श्रमणोपासक केवल वेष की उपासना नहीं करता किन्तु साधुत्व की उपासना करता है। आवश्यकनिर्युक्ति में कहा है—

किं पुच्छसि साहूणं तवं च नियमं च संजमं च।

किसी साधु ने एक श्रावक से पूछा तुम साधुओं की क्या बात देखते हो? क्या साधुओं का वेष बराबर नहीं है?

तब दूसरे साधु ने कहा—यह वेष नहीं देखता है साधुओं के गुण देखता है। जब गुण देख लेगा तब वन्दना करेगा।

इतना कह कर उसने श्रावक से कहा—क्यों यही बात है न? श्रावक बोला—जी हाँ।

साधु बोले—ठीक है। गुण देखकर वन्दना करने से कभी किसी असाधु के फंदे में नहीं फँसोगे।

इस तरह श्रावक साधु के वेष का नहीं, किन्तु साधुता के गुण का उपासक होता है और इसी कारण वह श्रमणोपासक कहलाता है।

श्रमणोपासक हाथ-पैर दबाकर श्रमण की सेवा नहीं करता किन्तु अतिथिसंविभाग द्वारा सेवा करता है। वह इस बात का ध्यान रक्खेगा कि मैं जिनका उपासक हूँ जो मेरे लिए आधारभूत हैं व मेरे घर से खाली न जावें।

किसी गाँव में सब लोग रात ही रात मे खाने वाले हों तो क्या वहाँ साधु का निर्वाह हो सकता है ?

नहीं !

सब रात में खाते हों तो तपस्वियों को उपयोगी आहार नहीं मिल सकता।

मिथ्यात्व त्याग

श्रमणोपासक बनने के लिए सर्वप्रथम मिथ्यात्व का परित्याग करना और सम्यक्त्व को धारण करना आवश्यक है। मिथ्यात्व को त्यागने में और सम्यक्त्व को धारण करने में, निश्चय दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। जैसे सूर्योदय का होना और अंधकार का मिटना एक ही बात है, क्योंकि सूर्योदय होने पर अंधकार मिट ही जाता है। इसी प्रकार मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण (त्याग) करने पर सम्यक्त्व आ ही जाता है। फिर भी व्यवहार दृष्टि से दोनो अलग-अलग हैं। मिथ्यात्व का त्याग कारण कहा जा सकता है और सम्यक्त्व उसका कार्य कहा जा सकता है। अर्थात् मिथ्यात्व का त्याग करने से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

कहा जा सकता है कि मिथ्यात्व क्या चीज है ? इसका उत्तर यह है कि न जानने का नाम मिथ्यात्व नहीं है, वरन् उलटा जानने और मानने का नाम मिथ्यात्व है। कहा भी है—

जीवे अजीवसन्ना, अजीवे जीवसन्ना।

जीव को अजीव समझना मिथ्यात्व है और अजीव को जीव समझना मिथ्यात्व है।

जो वस्तु चैतन्य गुण से युक्त है, उसे अजीव मानना मिथ्यात्व है। लोक में हिलने चलने वाले प्राणियों को ही जीव माना जाता है, लेकिन शास्त्रकार पृथ्वी, जल आदि स्थावर योनि में भी जीव मानते हैं।

जिस पृथ्वी में शस्त्र परिणत हो गया है, अर्थात् स्पर्श में आती रहने से अथवा अन्य किसी कारण से जिसकी घात हो गई है उस पृथ्वी को छोड़ कर शेष पृथ्वी सचित्त है।

आप कहेंगे कि शस्त्र लगने से अचित्त हुई पृथ्वी और सचित्त पृथ्वी की पहचान क्या है? इसका उत्तर यह है कि ताजा खुदी हुई पृथ्वी का वर्ण रस गंध आदि भिन्न प्रकार का होता है और समागम में आकर अचित्त हुई पृथ्वी का वर्ण, रस, गंध आदि भिन्न प्रकार का होता है। अभिप्राय यह है कि पृथ्वी में भी अपने जैसा जीव मौजूद है।

प्रश्न हो सकता है-हम तो बोलते हैं, पृथ्वी के जीव क्यों नहीं बोलते? उत्तर में कहा जायगा-क्या बोलने से ही जीव रहता है? न बोलने से जीव नहीं रहता? क्लोरोफार्म सुंघा देने से या किन्हीं दूसरे कारणों से मनुष्यों का बोलना देखना बन्द हो जाता है, तो क्या उस समय मनुष्यों में जीव नहीं होता है? यदि होता है तो फिर न बोलने के कारण पृथ्वीकाय में जीव का निषेध कैसे किया जा सकता है?

पृथ्वीकाय में जीव होने का एक प्रमाण और लीजिए। जब आपका जन्म हुआ था तब आपका शरीर छोटा था और घुटने की गांठ भी छोटी थी। जब आपका शरीर बड़ा हुआ तो घुटने की

गाठ भी बड़ी हुई। अब आप विचार करें कि यह घुटने की गाठ चैतन्य शक्ति से बडी हुई या जड शक्ति से ?
'चैतन्यशक्ति से'

यद्यपि गाठ की हड्डी बोलती-चालती नहीं है और हाथ लगाने पर कडी ही मालूम होती है, फिर भी उसे चैतन्य मानना होगा या नहीं ? 'मानना होगा'

क्योंकि हड्डी छोटी मे वडी हुई है, उसमें चैतन्य शक्ति न होती तो वह बढती कैसे,?

बबूल का पेड काला और कठोर होता है, परन्तु उसका फूल पीला और कोमल होता है। यों किसी से कहा जाय कि बबूल में पीला रग भी है तो शायद ही कोई माने। लेकिन यदि बबूल मे पीला रग नहीं था तो उसके फूल में पीलापन कहाँ से आया ? इसी प्रकार कठोर पेड में कोमलता नहीं थी तो फूल में कोमलता कहाँ से आ गई ? तो फिर मानना होगा कि बबूल में पीलापन और कोमलता भी है, जिस हम किसी प्रयोग विशेष से ही देख सकते हैं, वैसे नहीं देख सकते। ज्ञानी कहते हैं कि जिस प्रकार वह फूल चैतन्यशक्ति से खिला हुआ है, उसी प्रकार यह शरीर और इसकी हड्डियाँ भी चैतन्यशक्ति से ही बनी हुई हैं।

खदानों से पत्थर निकलता रहा है और आज भी निकल रहा है, फिर भी खदानें भर जाती हैं या नहीं ? अगर पृथ्वी में चैतन्य शक्ति न हो तो खदानों में पत्थर कैसे बढे ? यही सब समझ कर शास्त्रकारों ने कहा है कि पृथ्वी में भी जीव है। उन्होंने पृथ्वी मे जीव बताने के साथ ही उसके लक्षण भी बतलाये हैं। यह बात

दूसरी है कि उनकी कही हुई, इस सम्बन्ध की बात आपकी हमारी समझ में न आवे, परन्तु आगम को तो प्रमाण मानना ही चाहिए।

पृथ्वी की तरह पानी में भी जीव है। कहा जा सकता है कि पानी की ही तरह तेल भी द्रव पदार्थ है। शास्त्रकारों ने तेल में जीव क्यों नहीं बतलाया? सिर्फ पानी में ही जीव क्यों बतलाये हैं? इसका समाधान यह है कि तेल में जीव नहीं है, इस कारण नहीं बतलाये हैं और पानी में जीव हैं, इससे बतलाये हैं। पानी में जीवों का अस्तित्व है, इस सत्य की साधारण परीक्षा इस प्रकार है:—

आप जाड़े के दिनों में, जब खूब ठंड पड़ रही हो किसी गहरे तहखाने में सोकर उठेंगे और देखेंगे कि आपके मुँह से भाफ निकल रही है और आपका शरीर गर्म है। परन्तु गर्मी के दिनों में आप किसी तहखाने में सोएँगे तो ठंडक मालूम होगी और आपका शरीर भी ठंडा रहेगा। यह क्रम तब तक रहेगा, जब तक आत्मा है।

इसी प्रकार जाड़े के दिनों में, गहरे कुओं का पानी गर्म निकलता है और नदी तथा तालाब के जल से भी भाफ निकलती हुई दिखाई देती है। लेकिन गर्मी के दिनों में, जितना अधिक गहरा कुआ होगा उतना ही अधिक ठंडा पानी निकलेगा।

जल में जीव न होता तो ऐसा क्यों होता? जैसे शरीर में आत्मा होने पर ही यह सब बातें होती हैं, वैसे ही जल में जीव होने पर ही ये सब बातें हो सकती हैं।

इस प्रकार स्थावर योनि में भी जीव है। ऐसा होते हुए भी उन्हें अजीव मानना अजीव को जीव मानना या विश्व के समस्त

पदार्थों को जीव ही जीव मानना अथवा अजीव ही अजीव मानना मिथ्यात्व है।

सम्यग्दृष्टि तत्वों की यथार्थ श्रद्धा करता है। कहा भी है—

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।

—तत्त्वार्थसूत्र

तत्त्व नौ हैं, पर उन सबके मूलभूत तत्त्व दो ही है। इनका वास्तविक स्वरूप समझ कर उन पर प्रगाढ़ श्रद्धान रखना सम्यक्त्व कहलाता है। तत्त्वों पर श्रद्धा करना ऊर्ध्वगामी होने का मार्ग है। मिथ्यात्व इससे विपरीत नीचे गिराने वाला है।

आत्मा ऊर्ध्वगमन के मार्ग को भूला रहने से ही संसार में भटकता है। यानी स्वभाव से शुद्ध चैतन्यमय होकर भी संसार में जन्म-मरण करता रहता है।

आपको यह तो विदित ही है कि हम चेतन हैं, परन्तु बंधनों मे जकडे हैं और हमारे ज्ञान पर आवरण है। इस आवरण के कारण ही हम दीवार की उस पार की वस्तु नहीं देख सकते, लेकिन आज कल के वैज्ञानिक साधनों मे ऐसे भी यन्त्र बने हैं, जिनकी सहायता से तिजोरी के भीतर की वस्तु भी देखी जा सकती है। जब आत्मा पर आवरण होने पर भी यन्त्रों की सहायता से तिजोरी के भीतर की वस्तु देखी जा सकती है, तो आवरण हटने पर हम किसी प्रकार की वस्तुऍं न देख सकेंगे? उस दशा में मूर्त और अमूर्त सभी प्रकार के पदार्थ देखे जा सकेंगे। मतलब यह है कि जीव है और अजीव भी है। अजीव से भिन्न कोई दूसरा तत्त्व न होता तो आत्मा

पर आवरण आ ही नहीं सकता था। कोई भी वस्तु दूसरी वस्तु के मेल के बिना, अपने आप विकृति का पात्र नहीं बनती। विकार आता है पर के संयोग से ही। इस प्रकार विचार करने से जीव और अजीव इन दो तत्वों का अस्तित्व प्रतीत होता है।

जीव, अजीव के सम्पर्क के कारण बन्धन में पड़ा है, इस कारण बंध तत्त्व भी है। जब बन्ध है तो बन्ध का कारण भी होना चाहिए। बन्ध का जो कारण है उसे जैन शास्त्र आस्रव कहते हैं। बन्धन है तो वह कभी रुकता भी है और उससे छुटकारा भी है। छुटकारा दो प्रकार का है-एक आंशिक छुटकारा और दूसरा परिपूर्ण छुटकारा। इन तीनों बातों को क्रमशः संवर निर्जरा और मोक्ष कहा गया है। संसार में सुख और दुःख का अनुभव होता है यह सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं। सुख-दुःख का अस्तित्व अनुभवसिद्ध है। जब सुख-दुःख हैं तो उनके कारण भी होने ही चाहिए। उनके जो कारण हैं वही क्रम से पुण्य-पाप कहलाते हैं।

कहा जा सकता है कि बाह्य पदार्थों के निमित्त से ही सुख दुःख की उत्पत्ति होती है, परन्तु यह ठीक नहीं है। बाह्य पदार्थ बाह्य कारण हैं और सिर्फ बाह्य कारणों से सुख-दुःख उत्पन्न नहीं हो सकता। जिस बाह्य पदार्थ से एक को सुख प्राप्त होता है उसी से दूसरे को दुःख का अनुभव होता है। अतएव बाह्य कारणों के अतिरिक्त अन्तरंग कारणों का मानना भी आवश्यक है। अन्तरंग कारण पुण्य-पाप ही हो सकते हैं।

इस प्रकार तत्त्वों पर श्रद्धा रखना सम्यक्त्व है और श्रद्धा न रखना मिथ्यात्व है।

वेदान्त मत में मिथ्यात्व का स्वरूप और तरह का है। उसके अनुसार जो पदार्थ नहीं है, उसे पदार्थ मान लेना मिथ्यात्व है। जैसे-मृगमरीचिका में जल न होने पर भी जल मान लेना। इसी प्रकार अन्यत्र भी, पदार्थ न होने पर भी पदार्थ का अस्तित्व मान लेना मिथ्यात्व कहलाता है।

यहाँ यह स्मरण रखना है कि वेदान्त में एक मात्र ब्रह्म पदार्थ की ही सत्ता स्वीकार की गई है। ब्रह्म के अतिरिक्त, जगत् में प्रतिभासित होने वाले सभी पदार्थ असत् हैं।

मगर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि मृगमरीचिका में जल नहीं है, पर अन्यत्र कहीं जल है या नहीं? अन्यत्र कहीं जल है, तभी तो मृगमरीचिका में जल का भ्रम होता है। कहीं भी जल न होता तो मरीचिका में जल का भ्रम कैसे होता?

वास्तव में संसार में जल नामक पदार्थ है। इसीसे रेत में जल का भ्रम होता है। नदी, तालाब आदि जलाशयों में वास्तविक जल न होता, और कभी उस जल का ज्ञान न हुआ होता तो रेत में जल का आरोप किस प्रकार किया जा सकता था! भ्रम में वही वस्तु प्रतीत हो सकती है, जो पहले जानी हुई हो, देखी हुई हो या अनुभव में आई हो। जिसने कभी चांदी न देखी होगी, वह सीप को देखकर भ्रम से, उसे चांदी नहीं समझ सकता। इससे यह साबित होता है कि वेदान्त मत के अनुसार जगत् के समस्त पदार्थों को असत् या भ्रमजनित मानना उपयुक्त नहीं है। यहाँ इस विषय में विस्तार में जान का अवकाश नहीं है। अतएव मूल बात पर फिर आ जाएँ।

आशय यह है कि श्रमणोपासक बनने के लिए मिथ्यात्व का त्याग कर समकित को स्वीकार करना चाहिए और उस पर उसी प्रकार दृढ़ रहना चाहिए, जिस प्रकार भीष्म अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहे थे।

कामदेव श्रावक को देव ने समकित से विचलित करने के लिए अनेक कष्ट दिये, फिर भी वह विचलित न हुआ और समकित पर दृढ़ ही बना रहा।

देव ने कामदेव के शरीर के टुकड़े टुकड़े कर दिये थे। फिर वह जीवित कैसे हो गया ? इसका उत्तर यह है कि आधुनिक डाक्टर भी अवयवों के टुकड़े-टुकड़े करके उन्हें जोड़ देते हैं, फिर हम तो देवता के द्वारा टुकड़े टुकड़े किया जाना कहते हैं। जब डाक्टर जोड़ सकता है तो क्या देव नहीं जोड़ सकता ? हाँ, कोई देवों का अस्तित्व ही न मानता हो तो बात दूसरी है। ऐसे लोगों के लिए यह कथा नहीं है।

देव ने कामदेव के टुकड़े-टुकड़े कर दिये तब भी कामदेव अपनी श्रद्धा पर अटल रहा। यह कथा यह कहती है कि भगवान् के तत्त्व को, मेरे अन्तःकरण में पूरी श्रद्धा है या नहीं इस तथ्य की परीक्षा है।

जीव और अजीव अलग अलग हैं। आत्मा अमर है, यह जान कर मरने का भी भय त्याग देने पर ही पता चलता है कि आत्मा सम्बन्धी श्रद्धा दृढ़ है या नहीं ? कामदेव को देव ने पहले ही कहा था कि हे कामदेव, तू महावीर का धर्म त्याग दे अन्यथा मैं इस खड्ग से तेरे टुकड़े करता हूँ। देव द्वारा दिखाये हुए इस भय

से यदि कामदेव भीत हो जाता तो वह श्रद्धा से गिर जाता। परन्तु वह जानता था कि आत्मा के खण्ड नहीं हो सकते।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैन दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः॥

आत्मा तो वह है जिसे तलवार काट नहीं सकती, आग जला नहीं सकती, पानी गला नहीं सकता और हवा सोख नहीं सकती।

तो कामदेव कहता है-आत्मा तलवार से कट नहीं सकती और तू काटने को कहता है। देखता हूँ कौन हारता है। मेरा स्वरूप शुद्ध चिदानन्द है और यह देह नाशवान है। मुझे किस बात का भय है?

इस प्रकार की दृढता सम्यग्दृष्टि में ही हो सकती है। मेरे कथन का यह अर्थ नहीं है कि आप जबरदस्ती सिंह के सामने जाएँ अथवा साप से कटवाएँ। मेरा आशय यह है कि आप आत्मज्योति को भूल कर पद पद पर भयभीत हो रहे हैं, इस कारण आत्मज्योति को देखो। 'आत्मा अमर है' यह जानकर भी मरने का भय बना रहा तो कहना होगा कि अभी आप शब्दज्ञान-उपदेश पर भी अमल नहीं कर सकते और केवल भय ही भय के मारे मरते हैं।

लोग भय के कारण अधिक मरते हैं। भय से मुक्त होने का उपाय आत्मज्ञान प्राप्त करके निर्भय बनना है। आपको व्यवहार के काम करते कोई नहीं रोकता है, परन्तु निश्चय में तो यही समझो कि आत्मा अविनाशी है। लोग भूत के नाम पर ही मरते हैं, किन्तु वास्तव में भूत नहीं, भय ही मारता है। प्रश्नव्याकरणसूत्र में भी कहा है कि जो भयभीत होता है, वही भूत से छला जाता है। यो भूत-पिशाच योनि भी है, लेकिन मनुष्य के सामने भूत-पिशाच क्या कर सकते है? पर मनुष्य में आत्म श्रद्धा नहीं होती तो कई लोग

मर हुए मृत क भय से मरते हैं और कई जीवित व्यक्ति के डर स मरते हैं। आत्मश्रद्धावान् को कहीं कोई नहीं डरा सकता।

कामदेव पिशाच से नहीं डरा, उसने पिशाच को भी देव बना दिया। वह देव दूसरे को कष्ट देने आया था, इस कारण वह पिशाच बना हुआ था परन्तु कामदेव ने अपने श्रद्धाबल से उस पिशाच को भी देव बना दिया। देव बन कर उसने हाथ जोड़ कर कामदेव से कहा—आप धन्य हैं और आपके माता पिता धन्य हैं।

अभिप्राय यह है कि मिथ्यात्व को दूर करके सम्यक्त्व को धारण करना और सम्यक्त्व को आत्मा में इस प्रकार रमाना कि कदाचित् कोई देव भी कहे कि—'तू जड़ है और मैं तुझे काटता हूँ' तब भी भयभीत न हो किन्तु हँसता ही रहे। यही नहीं जैसे कामदेव ने पिशाच को देव बनाया, उसी प्रकार उसे सुधार दे।

मिथ्यात्व को त्यागने वाला और सम्यक्त्व को ग्रहण करने वाला सबसे पहले यह प्रतिज्ञा करता है कि मैं अन्य तीर्थिकों द्वारा माने जाने वाले मिथ्या देव मिथ्या धर्म और मिथ्यागुरु को देव धर्म और गुरु नहीं मानूँगा और न उन्हें नमस्कार करूँगा।

३

तीर्थ की व्याख्या

सम्यग्दृष्टि अन्यतीर्थी देव और गुरु को मानना-पूजना त्याग देता है। यह पहले कहा जा चुका है। इस बात को ठीक तरह समझने के लिए तीर्थ, स्वतीर्थ और अन्यतीर्थ को समझ लेने की आवश्यकता है। शब्दशास्त्र में 'तीर्थ' शब्द की व्युत्पत्ति इस तरह की गई है—

'तीर्यते अनेन–इति तीर्थः

जिसके सहारे तिरा जाय वह तीर्थ कहलाता है। तीर्थ दो प्रकार का है-(१) द्रव्यतीर्थ और (२) भावतीर्थ। जिसके द्वारा समुद्र, नदी आदि की कठिनाई को सरलता पूर्वक पार किया जा सके, उसे द्रव्यतीर्थ कहते हैं। जैसे, नदी पर पुल बन गया तो कोई भी उसे पार कर सकती है, अतएव पुल तीर्थ है। उसके द्वारा पार होने वाले को भी तीर्थ कहा जाता है। यह द्रव्यतीर्थ की बात हुई।

इसी प्रकार संसार एक गहन समुद्र के समान है। इस संसार-समुद्र में जीव डूब रहे हैं। जिस साधन से जीव संसार-समुद्र से

अठारह दोष पाये जाते हैं। जिसमें अठारह दोष हैं उसका नाम भले ही अर्हन्त भी क्यों न रख दिया जाय, हम उसे देव नहीं मानते। इस प्रकार का देव के रूप में मान जाते हों किन्तु जिनमें अठारह दोष हों वे अन्य तीर्थी देव कहलाते हैं। यह निर्णय की बात है—असलियत है। व्यवहार में तो फिर नाम का भी भेद हो गया है कि अमुक नाम वाला स्वतीर्थी देव है और अमुक नाम वाले परतीर्थी देव हैं।

मैंने एक भजन देखा था। उसकी प्रथम पंक्ति इस प्रकार थी—

महादेव कहे सुन पार्वती विजया मत देव गँवारन को॥

इस पंक्ति का अर्थ दो तरह से है। साधारण लोग इसे भंग के लिए समझते हैं और कहते हैं कि महादेव को भंग प्यारी है, इसलिए यह कड़ी भंग के लिए ही है। लोगों ने एक तुक और जोड़ रक्खी है—

गजानन को मोदक चाहिए महादेव को भंग।

भंग पीने वालों ने भंग का नाम विजया रक्खा है। अतएव वे इस कड़ी का अर्थ करते हैं— 'हे पार्वती! तू गँवारों को विजया मत दे, क्योंकि विजया बड़ी शक्ति है।'

महादेव भंग पीते हैं या नहीं इस पर विवाद है। महादेव को हम भी मानते हैं। हमारे यहाँ कहा है—

त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रयशंकरत्वात्।

वास्तव में सत्य-स्वरूप का नाम ही शिव (महादेव) है। देव

शिव की स्त्री 'चित्तवृत्ति' है और विजया 'आत्मज्ञान' है। यह सत्य-स्वरूप शिव अपनी स्त्री से कहते हैं कि विजया अर्थात् आत्मज्ञान गँवारों को मत दे, अन्यथा दुरुपयोग होगा।

उक्त कड़ी का अर्थ तो यह है, परन्तु लोग कहते हैं कि महादेवजी को भंग प्रिय थी, इस कारण यह भंग के सम्बन्ध में ही कहा है। तब हमें कहना होता है कि हम ऐसे शंकर को नहीं मानते।

इसी तरह कृष्ण के नाम पर भी लोगों ने अनेक ऊलजलूल कल्पनाएँ कर रक्खी हैं और रासलीला तथा व्यभिचार का प्रचार किया है।

मतलब यह है कि अठारह दोषों से युक्त देवों को मानने वाले अन्यतीर्थी हैं और अन्यतीर्थी द्वारा माने हुए देव अन्यतीर्थिक देव हैं। सम्यग्दृष्टि ऐसे दोषयुक्त देव को नहीं मानता और ऐसे देव का त्यागना मिथ्यात्व का त्यागना है।

कई लोग कहते हैं कि जीव ईश्वर नहीं बन सकता। यदि जीव ईश्वर बनने लगे तो अनेक ईश्वर हो जावें और फिर उनमें आपस में लड़ाई होने लगे। इस प्रकार की बातें व्यर्थ हैं। क्योंकि कर्म के आवरण से मुक्त होना ही ईश्वर बनना है। कर्म-आवरण से मुक्त होने के पश्चात् आत्मा जन्म नहीं लेता और जो जन्म लेता है, कहना चाहिए कि वह मुक्त नहीं हुआ है।

कई लोग कहते हैं कि जीव को मोक्ष नहीं होता। यदि जीव को मोक्ष होने लगे तो थोड़े ही काल में संसार सूना हो जाय। इस प्रकार की शंका भी फिजूल है। मोक्ष होने पर भी संसार सूना नहीं

पार होते हैं, उस साधन को और उस साधन के द्वारा पार होने वालों का भावतीर्थ कहते हैं।

अब यह सोचना है कि तीर्थ के स्वतीर्थ और परतीर्थ भेद क्यों किये जाते हैं? संसार के सभी दर्शनों को मानने वालों का यह दावा है कि हमारा दर्शन संसार से तिराने वाला है। लेकिन जिनका दर्शन यथार्थ है, वे स्वतीर्थी हैं और जिनका दर्शन अयथार्थ है वे परतीर्थी या अन्यतीर्थी हैं।

स्वतीर्थ और परतीर्थ को निश्चय और व्यवहार से जाना जा सकता है। परन्तु निश्चय से जानने का साधन हमारे-आपके पास नहीं है। हम तो सिर्फ व्यवहार से ही जान सकते हैं कि अमुक चिह्न या लक्षण वाला स्वतीर्थ है और अमुक चिह्न या लक्षण वाला परतीर्थ है।

फौज के आदमी आप ही लोगों में से होते हैं इसलिए जब तक कोई चिह्न न हो नहीं कहा जा सकता कि यह आदमी फौज का है या नहीं। साथ ही फौज में भर्ती हो जाने मात्र से ही कोई आदमी वीर नहीं हो जाता बल्कि कोई-कोई तो भर्ती न होने वाले, भर्ती होने वालों से भी अधिक वीर होते हैं। लेकिन व्यवहार में फौजी वर्दी पहनने वाला वीर माना जाता है। निश्चय में वह वीर है या नहीं यह नहीं कहा जा सकता। इसीलिए कहा है-

लोए लिंगप्पओयणं।

निश्चय में ज्ञान, दर्शन चारित्र का लिंग देखा जाता है और व्यवहार में वेष देखा जाता है।

यही स्वतीर्थ और अन्य तीर्थ में अन्तर है। जिसमें शास्त्रोक्त लिंग पाया जाय वह स्वतीर्थ है और जिसमे न पाया जाय वह परतीर्थ है।

अब यह देखना है कि अन्यतीर्थी देव किसे कहते हैं? जैन सिद्धान्त में नाम के लिए कोई आग्रह नहीं है। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि अमुक नाम वाला देव स्वतीर्थी है और अमुक नाम वाला परतीर्थी है। जैनसहस्रनाम में ससार के देवों के बहुत से नाम आये हैं, इसी प्रकार विष्णुसहस्रनाम में भी बहुत-से नाम आये हैं। भक्तामरस्तोत्र के यह पद्य तो प्रसिद्ध ही हैं:—

त्वामव्यय विभुमचिन्त्यमसंख्यमाद्यम्,
ब्रह्माणमीश्वरमनन्तमनङ्गकेतुम् ।
योगीश्वरं विदितयोग मनेकमेकम्,
ज्ञानस्वरूपममल प्रवदन्ति सन्त ॥ २४ ।
बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधात्,
त्व शङ्करोऽसि भुवनत्रयशंकरत्वात् ।
धाता ऽसि धीर ! शिवमार्गविधेर्विधानात्,
व्यक्त त्वमेव भगवन् ! पुरुषोत्तमोऽसि ॥

यहाँ बतलाया गया है कि सन्त पुरुष परमात्मा को अनेक नामो से पुकारते हैं। अव्यय, विभु, अचिन्त्य, ब्रह्मा, ईश्वर, योगीश्वर, बुद्ध, शकर, धाता-विधाता, पुरुषोत्तम आदि किसी भी नाम से कहो, इसमें किसी प्रकार का विवाद नहीं है। हमे तो यह कहना है कि हम अदेव को देव नहीं मानते। अदेव वह हैं जिनमें

अठारह दोष पाये जाते हैं। जिसमें अठारह दोष हैं, उसका नाम भले ही अर्हन्त भी क्यों न रख दिया जाय, हम उसे देव नहीं मानते। इस प्रकार वो देव के रूप में माने जाते हों, किन्तु जिनमें अठारह दोष हों व अन्य तीर्थी देव कहलाते हैं। यह निश्चय की बात है— असलियत है। व्यवहार में तो फिर नाम का भी भेद हो गया है कि अमुक नाम वाले स्वतीर्थी देव हैं और अमुक नाम वाले परतीर्थी देव हैं।

मैंने एक भजन देखा था। उसकी प्रथम पंक्ति इस प्रकार थी–

महादेव कहे सुन पार्वती, विजया मत देव गँवारन को ॥

इस पंक्ति का अर्थ दो तरह से है। साधारण लोग इसे भंग के लिए समझते हैं और कहते हैं कि महादेव को भंग प्यारी है, इसलिए यह कड़ी भंग के लिए ही है। लोगों ने एक तुक और जोड़ रक्खी है–

गजानन को, मोदक चाहिए महादेव को भंग।

भंग पीने वालों ने भंग का नाम विजया रक्खा है। अतएव वे इस कड़ी का अर्थ करते हैं– 'हे पार्वती! तू गँवारों को विजया मत दे, क्योंकि विजया मेरी शक्ति है।'

महादेव भंग पीते हैं या नहीं, इस पर विवाद है। महादेव को हम भी मानते हैं। हमारे यहाँ कहा है –

त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रयशंकरत्वात्।

वास्तव में सत्य स्वरूप का नाम ही शिव (महादेव) है। उस

शिव की स्त्री 'चित्तवृत्ति' है और विजया 'आत्मज्ञान' है। यह सत्य-स्वरूप शिव अपनी स्त्री से कहते हैं कि विजया अर्थात आत्मज्ञान गँवारों को मत दे, अन्यथा दुरुपयोग होगा।

उक्त कडी का अर्थ तो यह है, परन्तु लोग कहते हैं कि महादेवजी को भग प्रिय थी, इस कारण यह भग के सम्बन्ध में ही कहा है। तब हमें कहना होता है कि हम ऐसे शकर को नहीं मानते।

इसी तरह कृष्ण के नाम पर भी लोगो ने अनेक ऊलजलूल कल्पनाएँ कर रक्खी हैं और रासलीला तथा व्यभिचार का प्रचार किया है।

मतलब यह है कि अठारह दोषों से युक्त देवों को मानने वाले अन्यतीर्थी हैं और अन्यतीर्थी द्वारा माने हुए देव अन्यतीर्थिक देव है। सम्यग्दृष्टि ऐसे दोषयुक्त देव को नहीं मानता और ऐसे देव का त्यागना मिथ्यात्व का त्यागना है।

कई लोग कहते हैं कि जीव ईश्वर नहीं बन सकता। यदि जीव ईश्वर बनने लगे तो अनेक ईश्वर हो जावें और फिर उनमें आपस मे लडाई होने लगे। इस प्रकार की बातें व्यर्थ हैं। क्योकि कर्म के आवरण से मुक्त होना ही ईश्वर बनना है। कर्म-आवरण से मुक्त होने के पश्चात् आत्मा जन्म नहीं लेता और जो जन्म लेता है, कहना चाहिए कि वह मुक्त नहीं हुआ है।

कई लोग कहते हैं कि जीव को मोक्ष नहीं होता। यदि जीव को मोक्ष होने लगे तो थोडे ही काल में ससार सूना हो जाय। इस प्रकार की शका भी फिजूल है। मोक्ष होने पर भी ससार सूना नहीं

हो सकता। जीवों का अन्त आना तो दूर की बात है पहले द्रव्य का ही विचार कर देखिए। द्रव्य अनन्त राशि है। यदि आप एक-एक करके रुपयों की कड़ी जमाते जाएँ तो आकाश तो रुकेगा, पर आकाश के रुकते-रुकते क्या कभी उसका अन्त आजाएगा ?

'नहीं।'

क्योंकि आगे पोल है। इसी प्रकार यदि नीचे के आकाश का अन्त लेना चाहें तो भी अन्त नहीं आएगा।

कहा जाता है, एक बार बादशाह ने बीरबल से पूछा—दुनिया का केन्द्र कहाँ है ? बीरबल ने उत्तर दिया—मैं नाप कर बतला सकूँगा।

दूसरे दिन बीरबल ने जंगल में जाकर एक जगह खूंटा गाड़ दिया और बादशाह से कहा—मैंने दुनियाँ के केन्द्र का पता लगा लिया है। उसने वह खूंटा बतला कर कहा—यही दुनिया का केन्द्र है, आप चाहें तो नाप कर देख लें।

आप कहीं भी खड़े हों क्या दिशा की दूरी में कुछ फर्क पड़ेगा ? अर्थात् आकाश का अन्त आएगा ? आप हजार कोस उत्तर की ओर बढ़ जाएँगे तब भी क्या पश्चिम दिशा की दूरी घट जाएगी और उत्तर दिशा समीप हो जायगी ? आप कहीं भी खड़े होकर, किसी भी दिशा के लिए कल्पना करेंगे तो मालूम होगा कि कोई भी दिशा कम या ज्यादा दूर नहीं है। लोक की सीमा कर भी ली जाय तो भी अलोक का मध्य नहीं कल्पित किया जा सकता क्योंकि गोल वस्तु का मध्य नहीं हो सकता। हाथीदाँत की चूड़ी को कहीं से नापो वहीं से उसका मध्य मालूम होगा। ज्ञानियों ने लोक

अलोक को भी इसी प्रकार का देखा है। उसकी कहीं आदि नहीं, कहीं मध्य नहीं। फिर आदि मध्य बतलावें तो कैसे बतलावें ?

काल के विषय में भी यही बात है। जिस प्रकार क्षेत्र का अन्त नहीं है; उसी प्रकार काल का भी अन्त नहीं है। कोई नहीं कह सकता कि भूतकाल ज्यादा है या भविष्यकाल ज्यादा है ? क्योंकि दोनों ही अनन्त हैं। अनन्त के चक्कर का कहीं पार नहीं है।

इस प्रकार क्षेत्र अनन्त है और काल भी अनन्त है, किन्तु क्षेत्र और काल से भी जीव अनन्तगुणा अधिक हैं। जब क्षेत्र और काल ही समाप्त नहीं होता तो जीव किस प्रकार समाप्त हो जाएँगे ?

कल्पना कीजिए, एक बोरा खसखस के दानों का भरा है और एक बोरा नारियलों का भरा है। यदि एक नारियल के साथ एक एक खसखस का दाना निकाला जाय तो नारियल समाप्त हो सकते हैं, पर खसखस के दाने बहुत थोडे बाहर आएँगे। काल नारियल के समान है और जीव खसखस के दानों के समान हैं। परन्तु जब काल रूपी नारियलों की ही समाप्ति नहीं है तो जीव रूपी खसखस के दानों की समाप्ति कैसे होगी ?

कहने का आशय यह है कि सम्यग्दृष्टि इस प्रकार की भ्रमपूर्ण बातों में नहीं आता। वह निर्दोष देव और उनकी वाणी पर अटल विश्वास रखता है। वह निर्दोष देव को ही वन्दन-नमस्कार करता है।

कहा जा सकता है कि वन्दन-नमस्कार तो सबको करना चाहिए, फिर सदोष अन्यतीर्थी देवों को नमस्कार करने के त्याग की क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर यह है कि अन्यतीर्थी देव को नमस्कार न करना पाप से असहयोग करना है।

लोग वन्दना करने को तुच्छ-सी क्रिया समझते हैं और हर किसी के आगे सिर झुका देते हैं। अपने सिर की कद्र नहीं करते। लेकिन वन्दना का अर्थ समझने पर उसका महत्त्व मालूम होगा। किसी को बड़ा मानकर, उसके सामने अपनी लघुता दिखलाते हुए, हाथ जोड़ कर सिर झुकाना नमस्कार कहलाता है। नमस्कार दो प्रकार का है-लौकिक और लोकोत्तर। अर्थात् एक नमस्कार व्यवहार के लिए किया जाता है और दूसरा धर्म के लिए।

लोकव्यवहार में भी नमस्कार की कुछ निश्चित मर्यादाएँ हैं और शिष्ट जन उनका पालन करते हैं। जो बड़ा होता है उसी को नमस्कार किया जाता है। नमस्कार करने के पश्चात् भेदभाव या छल-कपट का बर्त्ताव नहीं किया जाता किन्तु समर्पण का भाव दिखलाया जाता है। इसीलिए शास्त्र में नमस्कार-पुण्य कहा गया है।

बहुत से लोग छल रख कर नमस्कार करते हैं। यानी वे बाहर से तो खूब नम्रता प्रकट करते हैं लेकिन उनके हृदय में छल भरा रहता है। ऐसा करना वास्तविक रूप में नमस्कार करना नहीं है।

किसी को बड़ा मानकर अपनी लघुता प्रकट करने के लिए उसे नमस्कार किया जाता है। अर्थात् नमस्कार करना अपनी लघुता बताना है लघु बनने पर अभिमान नष्ट होगा ही और अभिमान नष्ट होने पर पुण्य होता ही है। इस प्रकार का व्यावहारिक नमस्कार लोकव्यवहार तक ही सीमित रहता है उससे समाज में शान्ति बनी रहती है और प्रेमभाव प्रकट होता है।

ह लौकिक नमस्कार की बात हुई। लोकोत्तर नमस्कार उसी । जाता है जिसमें सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन और सम्यक्

चारित्र हो। जिनमें यह गुण नहीं हैं, फिर भी जो अपने आपको साधु कहते हैं, या साधु का वेष धारण करके ढोंग रचते हैं, उनको नमस्कार करना उनके दंभ का सम्मान करना है, किसी के द्वारा नमस्कार किये जाने पर ऐसे ढोंगी यह मानेंगे कि हमारा ढोंग, ढोंग नहीं है, धर्म है। फिर वे अपने धर्मढोंग को भी धर्म के नाम पर चलाएँगे। अतएव ऐसे लोगों को नमस्कार नहीं किया जाता।

तात्पर्य यह है कि वन्दना, नमस्कार स्वतीर्थी देव-गुरु को ही किया जाता है, अन्यतीर्थी देव-गुरु को नहीं। कहा जा सकता है कि हम तो लौकिक नाते से अन्यतीर्थी को नमस्कार करते हैं, पर ऐसा कहना उचित नहीं है। इससे लोगों को भ्रम होता है और दंभ को प्रतिष्ठा मिलती है। इसीलिए अन्यतीर्थी को वन्दना-नमस्कार करना मना है। ढोंगी को नमस्कार करना उसका आदर करना नहीं है, उसे और नीचे गिराना है।

जिसने जैन साधु का वेष धारण किया है, किन्तु जिसमें ज्ञान दर्शन चारित्र नहीं हैं, शास्त्रकार उसे 'पासत्था' कहते हैं। 'पासत्था' का अर्थ है व्रतों को पास में रखने वाला, उन्हें व्यवहार में न लाने वाला। जैसे-कपडे पास में रक्खे रहें तो लज्जा की रक्षा न होगी, कपड़ों को पहनने पर ही लज्जा की रक्षा हो सकती है, उसी प्रकार व्रतों को पास रख छोड़ने से ही साधुता नहीं आती, किन्तु उनका पालन करने वाला ही साधु कहलाता है। 'पासत्था' चारित्र का यथावत् पालन नहीं करता, अतएव उसको वन्दना-नमस्कार करने से धर्म की कीर्ति नहीं होती। यही नहीं, उसको वन्दन नमस्कार करना उसकी शिथिलता को प्रोत्साहन देना है।

कहा जा सकता है कि 'पासत्था' को नमस्कार करने से निर्जरा

तो होगी न ? शास्त्रकारों का कथन है कि अविवेकपूर्वक नमस्कार करने से निर्जरा भी नहीं होती।

प्रश्न होता है-निर्जरा न सही, मस्तक झुकाया है और नम्रता प्रदर्शित की है तो कुछ पुण्य होगा या नहीं ? ज्ञानी कहते हैं कि ऐसे नमस्कार से पुण्य भी नहीं होगा, किन्तु अज्ञान क्रिया का फल होगा।

यदि ऐसे व्यक्ति से नमस्कार करोगे तो अज्ञानक्रिया के फल से भी बच रहोगे और संभव है कि वह अपना आचरण सुधार ले परन्तु नमस्कार पाकर वह अपने दुराचार को दुराचार नहीं समझेगा और उसका सुधार नहीं होगा।

इन सब कारणों से सम्यग्दृष्टि ऐसे देव और गुरु को वन्दन नमस्कार नहीं करता, जिनमें देव के और गुरु के वास्तविक गुण न हों। निशीथ सूत्र में कहा है कि जो साधु पासत्था को वन्दना करता है उसे चौमासी प्रायश्चित्त आता है। जो साधु पासत्था को पढ़ाता है, उसके साथ ग्रामानुग्राम विचरता है और उसे आहार-पानी का देता है उसे भी चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

भगवान् को पासत्थों से द्वेष नहीं था जो उन्होंने ऐसा कहा। भगवान् के इस विधान का रहस्य यही है कि पासत्था के साथ रहने से अच्छा साधु भी शिथिल हो सकता है। उसके साथ असहयोग न किया गया तो उसका भी सुधार न होगा और यदि असहयोग किया गया तो उसका भी सुधरना संभव है।

जो मद्यविगत वालों म ऊपर नहीं चढ सके हैं, अर्थात् जिनमें काम क्रोध आदि विकार भर पड़े हैं उनकी उपासना करना और भी अ पकार में पड़ना है। इस विषय में भगवान् का कथन है कि जो

पुरुष महन्त अर्थात् साधु कहलाता है और फिर भी स्त्री की उपासना करता है, उसको नमस्कार करने वाला घोर अधकार मे समाया हुआ है।

महत्सेवा द्वारमाहुर्विमुक्ते-
स्तमोद्वार योषिता सङ्गिसङ्गम्
महन्तस्ते क्षमाचिन्ता• प्रशान्ता ,
विमन्यव सुहृद साधवो ये ॥

जिनका अन्त करण क्षमा आदि सद्गुणों से विभूषित है, जो शत्रु-मित्र पर समभाव रखते हैं, जिनमें क्रोध नहीं, द्वेष नहीं, ईर्षा नहीं है, वे महन्त पुरुष कहलाते है। उनकी उपासना मुक्ति का द्वार है। लेकिन स्त्री के सम्पर्क मे रहने वालो की उपासना नरक का द्वार है।

यही बात जैन शास्त्र कहते हैं। जिसमे अठारह दोष विद्यमान हैं, उस देव कहलाने वाले को और जिसमें सम्यक्चारित्र नहीं है उस गुरु को नमस्कार न करने की सम्यग्दृष्टि प्रतिज्ञा करता है।

कुदेव और कुसाधु को वन्दन-नमस्कार करने का ही निषेध नहीं किया गया है, किन्तु इस निषेध के साथ और भी निषेध बतलाया गया है। कहा है कि कुसाधु और कुदेव जब तक स्वय न बोले, तब तक सम्यग्दृष्टि उनसे आप पहले न बोले। अर्थात् वह वार्त्तालाप की पहल न करे। न एक बार बोले और न बार २ बोले। उनको अन्न, पानी, खाद्य और स्वाद्य एक बार न देवे और अनेक बार भी न देवे।

प्रश्न हो सकता है कि अगर शास्त्र का यह विधान है तो

तेरापंथ का यह मन्तव्य ठीक ही ठहरता है कि 'अपने साधु के सिवाय दूसरे को दान देना पाप है।' अगर ऐसा न होता तो शास्त्र में कुदेव और कुसाधु को आहारदान देने का निषेध क्यों किया गया होता?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जिसमें देव के यथार्थ लक्षण नहीं पाये जाते उसे देव समझ कर और जिसमें गुरु के लक्षण नहीं हैं उसे गुरु समझ कर अर्थात् धर्म की बुद्धि से दान देना पाप है। अनुकम्पा की बुद्धि से उन्हें दान देना पाप नहीं है और अनुकम्पा दान का यहाँ निषेध भी नहीं किया गया है।

भगवतीसूत्र में तुंगिया के श्रावकों का वर्णन करते हुए उन्हें 'अभंगुयदारे' कहा गया है। अर्थात् दान देने के लिए उनके द्वार सदा खुले रहते थे। अगर अपने साधु के सिवाय दूसरों को दान देने का एकान्त निषेध होता तो सदा द्वार खुले रखने की क्या आवश्यकता थी?

राजा प्रदेशी ने बारह व्रत अंगीकार किये थे और अन्यतीर्थी देव-गुरु को आहार-पानी देने का त्याग भी किया था फिर भी उसने विशाल दानशाला की स्थापना की थी। इससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि श्रावक केवल धर्मबुद्धि से उन्हें आहार दान देने का त्याग करता है, अनुकम्पाबुद्धि से देने का त्याग नहीं करता। अनुकम्पा भाव से दान देने का निषेध शास्त्र में कहीं नहीं है।

कहा जा सकता है कि भले धर्मबुद्धि से ही दान देने का निषेध हो मगर देने का निषेध तो है ही। इसका उत्तर यह है कि इस प्रकार का निषेध तो मनुस्मृति में भी है—

पाषण्डिनो विकर्मस्थान्, वैडालव्रतिकाञ्छठान् ।
हैतुकान् बकवृत्तींश्च, वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥

मनुस्मृति, अ. ४, श्लो. २९

पाखंडी, दंभी, निषिद्ध कर्म करने वाले, बिल्ली की-सी आजीविका वाले अर्थात् दूसरों का तन-धन अपहरण करने वाले, शठ, स्वार्थ-साधना के लिए विद्या प्राप्त करने वाले, बकवृत्ति अर्थात् कपट का सेवन करने वाले ब्राह्मण की पूजा वाणी से भी मत करो।

इसका आशय यही निकलता है कि ऐसे ब्राह्मण से मत बोलो। इसमे पूजा की रीति से दान देने का निषेध किया गया है, किन्तु दया करने का निषेध नहीं किया गया है। दया करके दान देने के लिए पात्र-अपात्र का विचार नहीं किया जाता। पात्र-अपात्र का विचार तो धर्मबुद्धि से दान देते समय ही किया जाता है।

मनु ने आगे यहाँ तक कहा है कि ऐसे ब्राह्मण को दान देने वाला दाता, पत्थर की नाव के समान डूब जाता है।

तात्पर्य यह है कि जिसे सत्य और असत्य का भान हो गया है, जो यथार्थ और अयथार्थ तत्त्व का ज्ञाता हो गया है और जिसने यथार्थ तत्त्व के अनुसार ही चलने का सकल्प कर रक्खा है, उसे अयथार्थ तत्त्व और अयथार्थ तत्त्व का आचरण करने वालों के साथ असहकार रखना चाहिए। जिसने झूठ त्याग दिया है, वह झूठ और झूठे से असहयोग न करेगा तो उसका सत्य टिकना कठिन हो जायगा। इसी तरह अयथार्थ तत्त्व से असहकार किये

बिना यथार्थ तत्त्वों का टिकना भी कठिन हो जाता है। अतएव जो मिथ्यात्व-वासना में पड़ा हुआ है, फिर भी अपने आपको साधु कहता है उसके साथ भी असहयोग करना सम्यग्दृष्टि का कर्त्तव्य हो जाता है। इसी हेतु से अन्यतीर्थी देव और गुरु को वन्दना-नमस्कार करने का उनके साथ वार्त्तालाप करने का और उन्हें धर्मभावना से दान देने का निषेध किया गया है।

आगार

अब यह देखना है कि गृहस्थी में रहते हुए अन्यतीर्थी गुरु और अन्यतीर्थी देव से पूरी तरह असहकार किया जा सकता है या नहीं? ज्ञानियों का कथन है कि ससार में अनेक प्रकार की स्थिति होती है। गृहस्थ की स्थिति बड़ी पेचीदा होती है। अतएव ऐसा न हो कि गृहस्थों को अपना जीवन निभाना भी कठिन हो जाय और ऐसा भी न हो कि उनके आश्रित तत्त्वों का रूप ही लुप्त हो जाय। इस समस्या पर विचार करके ज्ञानियों ने कहा है:—

'अन्नत्थ रायाभिओगेणं, गणाभिओगेणं, बलाभिओगेणं, देवाभिओगेणं, गुरुनिग्गहेणं, वित्तिकन्तारेणं।'

—आवश्यक-हारिभद्रीय, पृ० १११०

सम्यक्त्व के यह छह आगार बतलाये गये हैं। इन छह कारणों से यदि अन्यतीर्थी देव-गुरु को मानना भी पड़े, तो भी समकित में दोष नहीं आता। इन आगारों की व्याख्या इस प्रकार है:—

१—राजाभियोग

राजा के कारण नियम को तोड़ना 'राजाभियोग' कहलाता है। सम्यग्दृष्टि इस बात को भलीभाँति जानता है कि अन्यतीर्थी देव और अन्यतीर्थी गुरु के प्रति मेरे हृदय में किसी प्रकार का द्वेष नहीं है फिर भी उन्हें नमस्कार करना अपने समझे और माने हुए तत्त्वों को नष्ट करना है। यह समझ कर वह उनके प्रति असत्कार का ही व्यवहार करता है- उन्हें आदर नहीं देता। मगर राजा अन्यतीर्थी देव-गुरु को नमस्कार करता है। उसके दबाव से आग्रह से या प्रेरणा से सम्यग्दृष्टि को भी कदाचित् नमस्कार करना पड़े तो इससे समकित का नाश नहीं होता।

यों तो गुणों के पीछे नमस्कार किया जाता है परन्तु कहीं-कहीं रूढ़ि-परम्परा से भी नमस्कार करना देखा जाता है। कई लोग नमस्कार करवाते हैं इस कारण राजा भी उन्हें मानने लगते हैं। यद्यपि सम्यग्दृष्टि इस रूढ़ परम्परा को पाखण्ड में ही गिनता है लेकिन कदाचित् राजा उसका सम्मान करने की आज्ञा दे तो उस समय सम्यग्दृष्टि क्या करे? कोई एक आदमी अपने प्रण पर दृढ़ता दिखला कर इस राजाज्ञा का उल्लंघन कर भी सकता है, लेकिन सब ऐसा नहीं कर सकते। अतएव किसी एक आदमी द्वारा की जाने वाली उस बात को नियम रूप नहीं बनाई जा सकती। कदाचित् सब लोग ऐसा करने लगें तो राज्य में अशान्ति फैलेगी और विद्रोह खड़ा हो जाएगा। इस कारण राजा के दबाव से कदाचित् सम्यग्दृष्टि के लिए अन्यतीर्थी को वन्दना-नमस्कार करने का अवसर आजाय, तो शास्त्रकार कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि इसे 'राजाभियोग' समझे। अर्थात् राजा का बलात्कार या दबाव समझ

कर वह नमस्कार करे। वह मन मे समझे कि 'यह सच्चा देव या गुरु नहीं है, किन्तु राजा के बलात्कार से मैं नमस्कार करता हूँ, धर्म की प्रेरणा से नहीं।'

राजा का अभियोग सम्यक्त्व के समान अन्य व्रतों में भी है। इस आगार से छूटने के लिए ही श्रावक की बारह प्रतिमाओं का विधान है, उनमें पहली सम्यक्त्वप्रतिमा है। इसमें शुद्ध सम्यक्त्व का पालन किया जाता है। श्रावक सम्यक्त्व का पालन तो पहले भी करता था, किन्तु पहले सम्यक्त्व में आगार थे और पहली प्रतिमा धारण करने पर आगार (अपवाद) नहीं रहते।

२—गणाभियोग

साधारणतया 'गण' का अर्थ जाति समझा जाता है। जाति के लोग किसी काम को करने के लिए कहें या नियम बनाएं और वह काम धर्म से विरुद्ध हो तो सम्यग्दृष्टि क्या करे? जाति के साथ उसका संबध है, उसे लडकी लेनी-देनी है। अगर वह जाति के नियम को नहीं मानता तो क्लेश होगा। ऐसे अवसर पर सम्यग्दृष्टि विचारता है कि मैं जाति के साथ सबध विच्छेद कर लूँ, यह बात दूसरी है, परन्तु जब तक ऐसा नहीं कर सकता और जाति के साथ संबध रख रहा हूँ, तब तक जाति वालो की इच्छा के अनुसार धर्मविरुद्ध कार्य भी करना पडेगा। इस प्रकार जाति के कारण अन्यतीर्थी देव-गुरु को मानना पडे तो वह गणाभियोग है। इससे सम्यक्त्व में अतिचार नहीं लगता है।

गणाभियोग का एक अर्थ और भी है। अनेक राज्यों की

सम्मिलित शासन व्यवस्था को भी गण कहते हैं। प्राचीन समय में नौ लिच्छवी और नौ मल्ली, ऐसे अठारह राजाओं का गण बना हुआ था। इस गण की तुलना वर्त्तमान राष्ट्रमण्डल के साथ की जा सकती है, यद्यपि वर्त्तमान का राष्ट्रमण्डल निर्बल और निष्प्राण है, तथापि है वह गणतन्त्र की रूप-रेखा पर ही। गण का धर्म सबल से निबल की रक्षा करना है। जब कोई राज्य किसी निबल को सताता है तो गण अपना सर्वस्व देकर भी उसकी रक्षा करना अपना कर्त्तव्य समझता है।

सम्यग्दृष्टि इस 'गण' का भी आगार रखता है। एक तरफ राजा एक बात कहता हो और दूसरी तरफ गण दूसरी बात कहता हो, तब ऐसी उलझन भरी स्थिति में क्या किया जाय? साधु तो संसार-व्यवहार को त्याग चुके हैं, इसलिए उन पर किसी राजा या सम्राट की भी आज्ञा नहीं चलती, लेकिन श्रावक को ऐसे समय में क्या करना चाहिए? शास्त्र कहता है कि सम्यग्दृष्टि के लिए राजाभियोग और गणाभियोग-दोनों का आगार है। वह अपनी परिस्थिति के अनुकूल निर्णय करके बर्त्ताव करेगा।

३—बलाभियोग

अभियोग का अर्थ यहाँ हठ किया गया है और बल का अर्थ शरीर का सामर्थ्य लिया गया है। एक बलवान् आदमी लाठी लेकर खड़ा हो जाय और कहने लगे—'हमारे गुरु को नमस्कार कर नहीं तो तेरे खोपड़ी फोड़ दूँगा। अगर शक्ति हो और तैयारी हो तो धर्म पर दृढ़ रहते हुए मर जाना भी बुरा नहीं है, परन्तु सभी से ऐसी आशा नहीं की जा सकती। इसीलिए बलाभियोग का

विधान किया गया है । सम्यग्दृष्टि ऐसे अवसर पर समझे कि मैं इसके गुरु को वन्दना करने में धर्म नहीं समझता और न अपनी इच्छा से वन्दना ही कर रहा हूँ, मैं तो इसके बल के कारण ही अपना सिर झुका रहा हूँ ।

४—देवाभियोग

किसी देवता के बलात्कार के कारण, विवश होकर, अन्यतीर्थी देव या गुरु को वन्दन-नमस्कार करना या उनका आदर-सत्कार करना देवाभियोग कहलाता है ।

कई लोग कहते हैं कि शास्त्र में जब 'देवाभियोग' आया है तो भैरों भवानी आदि की पूजा करने में क्या हर्ज है ? मैं पूछता हूँ कि आप भैरों भवानी को अपनी इच्छा से पूजते हैं या वे बलात्कार करके—जबर्दस्ती करके आपसे पुजवाते हैं ? यदि इस आगार का अर्थ हो कि भैरों-भवानी की ओर से जबर्दस्ती न होने पर भी, अपनी ही इच्छा से, इष्ट की सिद्धि से प्रलोभन से, उन्हें मानना-पूजना देवाभियोग है, तो राजा-भियोग, गणाभियोग और बला-भियोग का भी यही अर्थ क्यों न समझा जाय ? यदि कहा जाय कि राजाभियोग आदि अपवादों का सेवन तभी किया जा सकता है, जब उनकी ओर से आग्रह हो, जबर्दस्ती हो, तो देवाभियोग का भी यही अर्थ क्यों न लिया जाय ?

वास्तव में देवता को उसके बलात्कार के विना ही मानना-पूजना देवाभियोग नहीं है । जो अपनी इच्छा से उसे मानते पूजते हैं, वे अपने सम्यक्त्व को नष्ट करते हैं ।

सम्मिलित शासन व्यवस्था को भी गण कहते हैं। प्राचीन समय में नौ लिच्छवी और नौ मल्ली, ऐसे अठारह राजाओं का गण बना हुआ था। इस गण की तुलना वर्त्तमान राष्ट्रमण्डल के साथ की जा सकती है, यद्यपि वर्त्तमान का राष्ट्रमण्डल निर्बल और निष्प्राण है तथापि है वह गणतन्त्र की रूप-रेखा पर ही। गण का धर्म सबल से निबल की रक्षा करना है। जब कोई राज्य किसी निबल को सताता है तो गण अपना सर्वस्व देकर भी उसकी रक्षा करना अपना कर्त्तव्य समझता है।

सम्यग्दृष्टि इस 'गण' का भी आगार रखता है। एक तरफ राजा एक बात कहता हो और दूसरी तरफ गण दूसरी बात कहता हो, तब ऐसी उलझन भरी स्थिति में क्या किया जाय? साधु तो संसार-व्यवहार को त्याग चुके हैं, इसलिए उन पर किसी राजा या सम्राट की भी आज्ञा नहीं चलती, लेकिन श्रावक को ऐसे समय में क्या करना चाहिए? शास्त्र कहता है कि सम्यग्दृष्टि के लिए राजाभियोग और गणाभियोग-दोनों का आगार है। वह अपनी परिस्थिति के अनुकूल निर्णय करके यथोचित करेगा।

३—बलाभियोग

अभियोग का अर्थ यहाँ हठ लिया गया है और बल का अर्थ शरीर का सामर्थ्य लिया गया है। एक बलवान् आदमी लाठी लेकर खड़ा हो जाय और कहने लगे-'हमारे गुरु को नमस्कार कर, नहीं तो तेरी खोपड़ी फोड़ दूँगा। अगर शक्ति हो और तैयारी हो तो धर्म पर दृढ़ रहते हुए मर जाना भी बुरा नहीं है, परन्तु सभी से ऐसी आशा नहीं की जा सकती। इसीलिए बलाभियोग का

मारे देव की पूजा करने लगते हैं। पहले के लोग किसी आवश्यकता के समय भी देव को नहीं मनाया करते थे। वे तप का आश्रय लेते थे। भरत चक्रवर्त्ती ने देवता को मनाया या तेला किया? कृष्णजी ने देवता को मनाया था या तेला किया था? तप का आश्रय लेने से देवता आप ही आप भागे आते थे। शास्त्र में कहा है—

देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो।

जिसका मन निरन्तर धर्म में लीन रहता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं। इस प्रकार देवताओं को भी दास बनाने वाला धर्म आपको प्राप्त है। पर आप धर्म की परवाह न करके देवताओं के दास बने फिरते हैं। यह कितनी अद्भुत बात है।

ढोंग में फँस कर कोई काम करने लगने से, जैसे भैरों भवानी को मानने लगने से, अनेक अनर्थ होते हैं और फिर मिथ्या परम्परा चल पडती है। देवी-देवताओं के नाम पर आज भी जो हजारों बकरे कटते हैं, यह सब ऐसी मिथ्या परम्पराओं का ही कुपरिणाम है।

देव चार प्रकार के होते हैं—असुर, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक। सब से निकृष्ट असुर योनि के देवता में भी दस हजार चक्रवर्त्तियों के बराबर बल होता है। ऐसा होते हुए भी, जो साधारण आदमी की पकड के भय से भाग जाता है, उसे देव मानना और फिर उसकी पूजा करना कैसे ठीक हो सकता है?

कई लोग कहते हैं-भैरों-भवानी को स्वप्न में देखा, इसलिए उनकी पूजा करनी चाहिए। कई लोग उनके डर के मारे उनकी पूजा करते हैं। मतलब यह है कि भैरों-भवानी आदि के नाम पर ऐसा ढोंग चलता है कि कुछ कहा नहीं जाता।

लासलगांव के एक श्रावक कहते थे कि-उनके बेटे की बहू के शरीर में चुड़ैल आया करती थी। घर के सब लोग उससे डरते थे। वहीं की एक नाइन ने कहा-मैं चुड़ैल को निकाल दूँगी, पर इतना लूँगी। नाइन की माँग मंजूर करली गई। नाइन-बहू को लेकर एक बन्द कमरे में बैठ गई और हाथ में पत्थर लेकर उससे कहने लगी-'रांड निकल, नहीं तो पत्थर से सिर फोड़ दूँगी।' बस, इतना कहते ही चुड़ैल भाग गई।

कई बार ऐसा ही हुआ। आखिर उन्होंने सोचा-देखना चाहिए कि नाइन क्या करती है, छिप कर देखा तो सब बात मालूम हुई। अब बहू के शरीर में फिर खराबी आई तो उन्होंने नाइन से कहा-अब हमें मन्त्र मालूम हो गया है। अब हम स्वयं चुड़ैल को भगा लेंगे। वह उसी प्रकार पत्थर लेकर सिर फोड़ने को कहते और चुड़ैल भाग जाती। उन्होंने समझ लिया कि चुड़ैल वगैरह कुछ नहीं है। यह तो दिल की कमजोरी है।

जरा विचार कीजिए कि शरीर में सचमुच ही देवी-देव हो तो उसे मारने वाले के हाथ क्यों नहीं बँध जाते? वह देव भाग क्यों जाता है? हम यह नहीं कहते कि देवयोनि है ही नहीं। अर्जुन माली के शरीर में देव था और सचमुच देव था। मगर सुदर्शन श्रावक उसके सामने ध्यान लगा कर बैठ गया तो देव भी सुदर्शन का क्या बिगाड़ सका? कुछ भी नहीं। लेकिन आप तो अकारण ही डर के

के चक्कर में पड़ कर देवी-देवताओं के सामने अपना सिर टकराता फिरे। उसका अर्थ इतना ही है कि जब २ देव की तरफ से जबर्दस्ती हो और उस समय यदि मिथ्या देव, गुरु, धर्म को सत्कार देना पड़े, तो इसका आगार है।

५—गुरुनिग्रह

गुरु दो प्रकार के होते हैं। एक तो माता पिता आदि गुरु जन हैं और दूसरे धर्माचार्य गुरु हैं। श्रावक संसार में रहता है। उस समय उसके माता-पिता या धर्माचार्य को कोई कष्ट हो रहा हो, जो अल्प उपाय से न मिटता हो, किन्तु किसी ढोंगी को वन्दन-नमस्कार करने से ही मिट सकता हो, तो ऐसे समय के लिए यह आगार है। कहावत है—

> बखत पडे बाँका, गधे को कहे काका।

इस कहावत के अनुसार ढोंगी को भी हाथ जोड़ने पड़ते हैं, ढोंगी की भी सेवा करनी पड़ती है। परन्तु ऐसा करने में, श्रावक की नीयत उस ढोंगी की पूजा करना नहीं है, न वह ढोंग को अच्छा समझता है, पर गुरुजन का कष्ट मिटाने के लिए ऐसा करता है। अतएव उसका समकित दूषित नहीं होता।

सत्यप्रतिज्ञ राजा हरिश्चन्द्र की पत्नी रानी तारा ब्राह्मण के घर दासी का काम कर रही थी। ब्राह्मण के जवान लड़के की नीयत बिगड़ गई। वह धर्म सुनाने के बहाने तारा को भ्रष्ट करना चाहता था, परन्तु तारा समझ गई। उसने कहा-आप मुझे काम करने के लिए दासी बनाकर लाये हैं, धर्म सुनाने को नहीं लाये हैं। मैं वही कथा सुनती हूँ, जिससे मेरा दासीपन का विरुद न बिगड़े।

महाराष्ट्री भाषा के एक मासिक पत्र में 'भूतांचा खेळ' शीर्षक एक लेख था। उसमें लिखा था कि अमेरिका में कुछ लोगों ने भूत का ढोंग किया। जिसका चाहो उसी का भूत शरीर में आ जाय। बहुत से लोग उनकी ठगाई में आ गये। दो मित्रों ने इस मामले की सचाई का पता लगाने का निश्चय किया। वे दोनों, शरीर में भूत बुलाने वाले के पास गये। इनमें से एक की बहिन जीवित थी। उसने भूत बुलाने वाले से कहा-मेरी बहिन का भूत बुला दीजिए। भूत बुलाने वाले ने ढोंग-ढा किया और कहा—लीजिए, भूत आ गया। उसे आश्चर्य हुआ कि मेरी बहिन तो घर में बैठी है। उसका भूत कहाँ से आ गया ?

दूसरे ने कहा-अच्छा, नैपोलियन का भूत बुलाइए। उसने नैपोलियन का भी भूत बुला दिया।

अचानक दूसरा मित्र भूत बुलाने वाले पर छुरा लेकर झपटा। वह भागा। उसे आश्चर्य हुआ कि जो नैपोलियन का भूत है वह छुरा लेकर दौड़ने से कैसे भागेगा ? फिर उसने शंकराचार्य का भूत लाने को कहा। उसने उसे भी बुला दिया। दूसरे मित्र के मन में वेदान्त विषयक कुछ ऐसी शंकाएँ थीं जिनका उत्तर वह स्वयं नहीं जानता था उसने शंकराचार्य के भूत से वही प्रश्न किये, परन्तु शंकराचार्य का कथित भूत कुछ भी उत्तर नहीं दे सका।

दोनों मित्र समझ गए कि भूत बुलाने की बात निरी मिथ्या है, इसमें सिर्फ मानसिक भावना जगाने की शक्ति है।

मतलब यह है कि देवाभियोग का अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य अपनी विषय-वासना की पूर्ति के लिए, स्वार्थसिद्धि के लिए, ढोंग

सव्वेहिं पि जिणेहि, जियदुज्जयरागदोसमोहेहिं ।
सत्ताणुकंपणट्ठं, दाणं न कहिंचि पडिसिद्धं ॥

अर्थात दुर्जय राग, द्वेष और मोह को जीतने वाले जिनेन्द्रो ने अनुकम्पादान का कहीं भी निषेध नहीं किया है।

इस विषय में टीकाकार कहते हैं.—

'भगवन्तस्तीर्थंकरा अपि त्रिभुवनैकनाथा' प्रविव्रजिषवः सांवत्सरिकमनुकम्पया प्रयच्छन्त्येव दानमिति ।

अर्थात्—त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर भी जब दीक्षा लेने को तैयार होते हैं तो अनुकम्पा मे वार्षिक दान देते हैं। वे एक वर्ष तक अपने दान की धारा बहाते रहते हैं। दान देने का निषेध होता तो दीक्षा लेने को तैयार तीर्थंकर देव दान क्यों देते ? अनुकम्पादान में भी पाप होता तो तीर्थंकर पाप के आचरण का आदर्श क्यों उपस्थित करते ?

दया से प्रेरित होकर दान देना श्रावक का स्वाभाविक गुण है। श्रावक के हृदय में ऐसी कोमलता होती है कि वह किसी दीन—दु खी को देखकर सहज ही द्रवित हो जाता है और उसके दु ख को दान द्वारा या अन्य उचित उपाय से दूर करने का प्रयत्न करता है। हमारे पास आने से स्वाभाविक गुण में वृद्धि होनी चाहिए। स्वाभाविक गुण को घटाना भी कहीं धर्म हो सकता है ?

सारांश यह है कि वृत्तिकान्तार आगार का आशय अटवी में दान देना नहीं है, किन्तु आजीविका का खतरे में पड़ जाना ही है।

तारा क्या शौक से उस ब्राह्मण की सेवा करती थी? नहीं। किन्तु पति के सत्य को निभाने के लिए करती थी। इसी प्रकार श्रावक स्वेच्छा से ढोंगी की सेवा नहीं करता। किन्तु उस ढोंगी ने गुरु को कष्ट में रक्खा है, या छिपा रक्खा है। इसी कारण गुरु का कष्ट मिटाने के लिए उस श्रावक को ढोंगी का आदर करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में श्रावक का सम्यक्त्व दूषित नहीं होता है।

६—वृत्तिकान्तार

कुछ लोग 'वृत्तिकान्तार' का अर्थ समझते हैं—जंगल में दान देना। उनके अभिप्राय से जंगल में दान देना मना है फिर भी यदि कष्ट में पड़ कर जंगल में दान देना पड़े तो इसका आगार है।

वास्तव में 'वृत्तिकान्तार' का अर्थ यह नहीं है। 'वृत्ति' या वित्ति' शब्द का अर्थ आजीविका होता है और आजीविका के गहनपने (कष्ट) का नाम वृत्तिकान्तार है। वृत्तिकान्तार का मतलब है आजीविका का खतरे में पड़ना। आजीविका खतरे में पड़ जाने के कारण अपने और अपने परिवार का जीवन संकट में पड़ जाय और ऐसी स्थिति में कुगुरु या कुदेव की सेवा करनी पड़े तो समकितधारी को इसका आगार है। क्योंकि वह समझता है कि 'है तो यह पाखण्डी ही, परन्तु आजीविका के कष्ट से मुझे सेवा करनी पड़ रही है।' ऐसा समझ कर सेवा करने से दोष नहीं लगता। यह आगार दान देने के निषेध के लिए नहीं है, बल्कि आजीविका संकट के कारण अन्यतीर्थी की सेवा करने के विषय में है। अनुकम्पादान तो सर्वत्र ही विहित है। नियुक्ति में कहा है—

सम्यक्त्व के चिह्न

आरोपित सत्ता का पर्दा उठा कर पारमार्थिक सत्ता को जानने के लिए समकित धारण करने की आवश्यकता है। समकित का स्वरूप और उसके आगार बतलाये जा चुके हैं। यहाँ समकित का कुछ भीतरी रूप भी बतला देने की आवश्यकता है।

दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से, आत्मा में उत्पन्न होने वाला अत्यन्त प्रशस्त समता रूप परिणाम सम्यक्त्व कहलाता है। यह सम्यक्त्व आत्मा का एक विशिष्ट परिणमन है, अन्तरंग वस्तु है। किसी को देख कर ही यह नहीं जाना जा सकता कि यह व्यक्ति सम्यग्दृष्टि है अथवा मिथ्यादृष्टि है? ऐसी स्थिति में सहज ही प्रश्न उठ सकता है कि आखिर सम्यक्त्व की पहचान क्या है? अर्थात् यह कैसे कहा जा सकता है कि समकित हुआ है या नहीं?

जैसे आग न दिखती हो और धुँआ दिखता हो तो उस धुँए के देखने से ही आग का अस्तित्व जान लिया जाता है। इस प्रकार

समकित के यह छह आगार समकित की रक्षा के लिए हैं। इनमें से कोई-कोई आगार व्रतों के लिए भी हैं, सब नहीं। इन आगारों का सेवन करने में भी सावधानी और विवेक रखने की आवश्यकता है। उदाहरणार्थ राजा अगर आज्ञा दे कि राज्य की आय को बढ़ाने के लिए सब को शराब पीना चाहिए, तो क्या राजाभियोग के अनुसार इस आज्ञा को मान लेना चाहिए? नहीं, ऐसे प्रसंग पर तो प्राण दे देना भला, पर शराब पीना भला नहीं। शराब न पीना उत्सर्ग धर्म है। उत्सर्ग धर्म को राजाभियोग से भी नहीं जाने देना चाहिए।

२—संवेग

संसार बन्दीखाने के समान मालूम होना, संसार से घृणा-भाव रहना और इस जन्म-मरण रूप संसार के चक्र से बाहर निकलने की इच्छा रहना सवेग कहलाता है ।

यद्यपि सम्यग्दृष्टि संसार में रहकर खाता, पीता और अन्य भी सासारिक कार्य करता है, परन्तु वह अपने सांसारिक जीवन में आसक्ति नहीं रखता । वह इन सब झझटों से मुक्ति ही चाहता है । जैसे कैदी जेल में रहता है, जेल का ही खाता-पीता है और जेल का काम भी करता है, किन्तु उसकी अन्तर की भावना जेल में रहने की नहीं है । वह चाहता यही है कि कब मैं इस कारागार से बाहर निकलूँ ? कभी-कभी कैदियों को मीठा भोजन भी मिल जाता है और कई लोगो को तो घर की अपेक्षा भी जेल में ज्यादा आराम रहता है, फिर भी भावना तो उनकी भी जेल से निकलने की ही होती है । जेल का आराम भी दु खदायी जान पडता है ।

इस प्रकार संसार-चक्र से छूटने की निरन्तर भावना का बना रहना ही सवेग है । जिसके हृदय मे सवेग है, वह सांसारिक पदार्थों में आसक्त नहीं हो सकता । वह मानो कहता है कि मैं ससार में फँसा हूँ, इस कारण ससार भोगता हूँ, मगर मेरी इच्छा ससार से निकलने की ही है और वह दिन धन्य होगा, जब मैं ससार को त्यागूँगा । इस प्रकार की भावना जिसमें है, उसी में समकित है । मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के नष्ट हुए विना यह भावना नहीं आ सकती ।

भगवान् ने कहा है-सवेग से अनुत्तर धर्मश्रद्धा उत्पन्न होती है और धर्मश्रद्धा से शीघ्र ही सवेग उत्पन्न होता है, जीव अनन्ता-

मैला पानी का चिह्न है। इसी प्रकार प्रशम और संवेग आदि को देख कर समकित को भी जाना जा सकता है। प्रशम और संवेग आदि सम्यक्त्व के लिंग हैं।

१—प्रशम

कषायों की मन्दता होना प्रशम कहलाता है। अनन्तानुबंधी कषाय का क्षय उपशम अथवा क्षयोपशम होने पर ही सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है, और अनन्तानुबंधी कषाय ही सब कषायों में तीव्रतम है। अतएव वह नहीं रहता तो सम्यग्दृष्टि में कषायों की वह तीव्रता भी नहीं रहती है। शास्त्रकार कहते हैं—

माई मिच्छादिट्ठी, अमाई सम्मदिट्ठी।

यह मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि का अन्तर है। मिथ्यादृष्टि कपट से भरा रहता है और इस बात पर गर्व करता है कि मैं पांच स बाय हूँ तो कोई दांत से भी नहीं खोल सकता। अर्थात् मिथ्यादृष्टि कपट करके गर्व करता है। जिसके अन्तरंग में ऐसा कपट भरा है, समझना चाहिए कि उससे समकित दूर है। कोरा ढोंग करने से कोई सम्यग्दृष्टि नहीं बन सकता।

पानी जब अपनी प्रकृति में रहता है, तब स्वच्छता और मीठापन उसका गुण होता है। उसमें शक्कर या नमक मिला देने पर वह अपनी प्रकृति में नहीं रहेगा। इसी प्रकार चाहे मैला कपट किया जाय या उजला कपट किया जाय यानी चाहे लोगों को मालूम होने वाला कपट करे अथवा न मालूम होने वाला, है वह कपट ही और वह समकित का विरोधी है। शुद्ध समकित तो अपनी प्रकृति में, निष्कपट रहने में ही है।

नुबन्धी क्रोध, मान माया और लोभ का क्षय करता है, नवीन कर्म नहीं बांधता और तत्कारणक मिथ्यात्व की विशुद्धि करके सम्यग्दर्शन का आराधक बन जाता है। दर्शनविशुद्धि से कोई कोई जीव उसी भव से सिद्ध हो जाता है। कोई उस विशुद्धता से तीसरे भव को उल्लंघन नहीं करता—पर भविशुद्धि की वृद्धि होने पर तीसरे भव में सिद्धि मिलती ही है।

संवेग शब्द के सम् + वेग इस प्रकार दो भाग होते हैं। व्युत्पत्ति के लिहाज से सम्यक् प्रकार का वेग 'संवेग' कहलाता है। हाथी, घोड़ा, मनुष्य मोटर वगैरह सभी में वेग होता है मगर वेग-वेग में अन्तर है। कोई वेग गड्ढे में ले जाकर गिराने वाला होता है और कोई अभीष्ट स्थान पर पहुँचाने वाला। जो वेग आत्मा को कल्याण के मार्ग पर ले जाता है वही वेग यहाँ अपेक्षित है। भगवान् तो कल्याण की बात ही कहते हैं। भगवान् सबको सम्बोधन करके कहते हैं—हे जगत् के जीवो! तुम लोग दुःख चाहते हो या सुख की अभिलाषा करते हो? इस प्रश्न के उत्तर में यह कौन कहेगा कि हम दुःख में पड़ना चाहते हैं? सभी जीव सुख के अभिलाषी हैं। तब भगवान् कहते हैं—अगर तुम सुख चाहते हो तो आगे बढ़ो पीछे मत हटो। सुख चाहते हो तो पीछे क्यों हटते हो? संवेग बढ़ाए जाओ और आगे बढ़ते चलो।

इस समय तुम्हारी बुद्धि का, मन का तथा इन्द्रियों का वेग किस ओर बह रहा है? अगर वह वेग तुम्हें दुःख की ओर घसीटे लिए जाता हो तो इसे रोक दो और आत्म-सुख की ओर मोड़ दो। अधोमुखी वेग को रोक कर उसे ऊर्ध्वमुखी बनाओ। यदि वेग सम्यक् प्रकार बढ़ाया जाय तो ही सुख प्राप्त किया जा सकता है। संवेग की सहायता बिना आगे कदम भी नहीं किया जा सकता।

इसलिए सर्वप्रथम तो यह निश्चय कर लो कि तुम्हें सुखी बनना है या दुखी ? अगर सुखी बनना है तो क्या दु ख के मार्ग पर चलना उचित है ? मान लीजिये एक आदमी दूसरे गांव जाने के लिए रवाना हुआ । रास्ते में उसे दूसरा आदमी मिला । उसने पूछा-भाई, तुम कहाँ जाते हो ? देखो, इस मार्ग में बाघ का भय है, इसलिये इधर से मत जाओ । ऐसा कहने वाला मनुष्य अगर विश्वसनीय होगा और जाने वाला अगर दुःख में नहीं पडना चाहता होगा तो वह निषिद्ध मार्ग में आगे बढेगा ? नहीं ! ऐसा होने पर भी अगर कोई उस मार्ग पर चलता है तो उसके विषय में यही कहा जायगा कि वह दुख का अभिलाषी है-सुख का अभिलाषी नही है ।

संवेग निर्भय बनने का पहला मार्ग है। अगर अपना वेग ठीक (सम्यक्) रक्खा जाय तो भय होने का कोई कारण नहीं है । संवेग में भय का कोई स्थान नहीं है । संवेग में निर्भयता है और जो संवेग धारण करता है वह निर्भय बन जाता है ।

संवेग किसे कहते हैं, यह पहले बतलाया जा चुका है । उसका सार इतना ही है कि मोक्ष की अभिलाषा और मोक्ष के लिए किया जाने वाला प्रयत्न ही संवेग है । मोक्ष की इच्छा रखने वाला कर्म-बधन को ढीला करने की भी इच्छा रखता है। कारागार को जो बंधन मानता है वही उससे छुटकारा पाने की भी इच्छा करता है । कारागार को बधन ही न मानने वाला उससे छूटने की भी क्यों इच्छा करेगा ? बल्कि वह तो उस बंधन को और मजबूत करना चाहेगा। ऐसा मनुष्य कारागार के बधन से मुक्त भी नहीं हो सकता। इसी प्रकार इस ससार को जो बधन रूप मानता है 'हस्त अशीरे कमदे हवा' अर्थात् मैं इस लालचरूप दुनिया की जेल में हूँ ऐसा

मानता है, उसी को मोक्ष की इच्छा हो सकती है। संसार को बंधन ही न समझने वाला मोक्ष की इच्छा ही क्या करेगा ?

मोक्ष की अभिलाषामें सभी तत्त्वों का समावेश हो जाता है। यद्यपि सब तत्त्वों पर अलग-अलग चर्चा की गई है किन्तु सब का सार 'मोक्ष की अभिलाषा होना' इतना ही है। मोक्ष की अभिलाषा उसी के अन्तःकरण में जागेगी जिसे संसार कडुवा लगेगा और जो संसार को बंधन समझेगा।

संवेग से क्या फल मिलता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा—संवेग से अनुत्तर धर्म पर श्रद्धा उत्पन्न होती है।

धर्मश्रद्धा मोक्षप्राप्ति का एक साधन है और यह साधन तभी प्राप्त होता है जब मोक्ष की आकांक्षा उत्पन्न होती है। जिसके हृदय में संवेग के साथ धर्मश्रद्धा होती है वह कदापि धर्म से विचलित नहीं हो सकता चाहे कोई कितना ही कष्ट क्यों न पहुँचाए। ऐसे दृढ धर्मियों के उदाहरण शास्त्र के पानों में उपलब्ध होते हैं।

संवेग से क्या फल मिलता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने यह भी कहा है कि संवेग से धर्मश्रद्धा और धर्मश्रद्धा से संवेग उत्पन्न होता है। इस प्रकार संवेग और धर्मश्रद्धा दोनों एक दूसरे के सहारे टिके हुए हैं। दोनों में अविनाभाव संबंध है।

जिस पुरुष को दुःखों से मुक्त होने की इच्छा होगी वह धर्मश्रद्धा द्वारा संवेग बढ़ाएगा और संवेग द्वारा धर्मश्रद्धा प्राप्त करेगा। ऐसा किये बिना वह रह नहीं सकता। जिसे कड़ाके की भूख लगी होगी वह भूख की पीड़ा मिटाने का प्रत्येक संभव उपाय करेगा। उसे ऐसा करना किसने सिखाया ? इस प्रश्न के उत्तर में यही कहना

होगा कि भूख के दु ख ने ही यह सिखलाया है, क्योंकि आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है। कपड़े किसलिए पहने जाते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में यही कहा जायगा कि सर्दी-गर्मी से बचने के लिए और लज्जा-निवारण के लिए ही वस्त्र पहने जाते हैं। घर भी सर्दी-गर्मी से बचने के लिए बनाया जाता है। यह बात दूसरी है कि उसमें फैशन को स्थान दिया जाता है, मगर उसके बनाने का मूल उद्देश्य तो यही है। इसी प्रकार जिसे ससार दु खमय प्रतीत होगा वह सवेग को धारण करेगा ही और इस तरह अपनी धर्मश्रद्धा को मूर्त्त रूप दिये बिना नहीं रहेगा। जहाँ सवेग है वहाँ मोक्ष की अभिलाषा और धर्मश्रद्धा भी अवश्य होती है। इस प्रकार जहाँ सॅवेग है वहाँ धर्मश्रद्धा है और जहाँ धर्मश्रद्धा है वहाँ सवेग है। धर्मश्रद्धा जन्म, जरा मरण आदि दु खों से मुक्त होने का कारण है और सवेग भी इन दु:खों से मुक्त कर मोक्षप्राप्ति की अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए ही होता है। इस प्रकार धर्मश्रद्धा और संवेग एक दूसरे के आधारभूत हैं—दोनों में अविनाभाव सबध है।

धर्मश्रद्धा भी दो प्रकार की होती है। एक धर्मश्रद्धा ससार के लिए होती है और दूसरी संवेग के लिए। कुछ ऐसे लोग हैं जो अपने आपको धार्मिक कहलाने के लिए और अपने दोषों पर पर्दा डालने के लिए धर्मक्रिया करने का ढोंग करते है। किन्तु भगवान् के कथनानुसार ऐसी धर्मक्रिया सॅवेग के लिए नहीं है। इस प्रकार की कुत्सित कामना से अगर कोई साधु हो जाय तो भी उससे कुछ लाभ नहीं होता।

३—निर्वेद

आरंभ और परिग्रह से निवृत्त होने की इच्छा होना और सांसारिक भोग-विलासों के प्रति आन्तरिक अनासक्ति का भाव

विद्यमान रहना निर्वेद कहलाता है। सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर दृष्टि निर्मल हो जाती है और अनन्तानुबंधी कषाय के नष्ट हो जाने से गहरी आसक्ति भी नहीं रह जाती है ऐसी स्थिति में निर्वेद का भाव स्वतः अंकुरित हो जाता है।

निर्वेद जीवन के लिए अनिवार्य वस्तु है। बिना निर्वेद के किसी का भी काम नहीं चल सकता। उदाहरणार्थ— आप भोजन करने बैठे हैं। इतने में आपके किसी विश्वासपात्र मित्र ने आकर कहा— 'इस भोजनमें विष है।' ऐसी स्थिति में आप वह भोजन नहीं करेंगे। इसी प्रकार विषय-भोगों के स्वरूप का सच्चा ज्ञान हो जाने पर सभी को निर्वेद उत्पन्न होता है। मगर जिस निर्वेद के साथ संवेग होता है, उस निर्वेद की शक्ति तो गजब की होती है। ज्ञानी जनों में संवेग के साथ ही निर्वेद होता है। जैसे आप विषमय भोजन का त्याग कर देते हैं, इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष संसार के विषयसुख को विष मानते हैं और इसी कारण उन्हें सांसारिक सुखों पर निर्वेद उत्पन्न हो जाता है।

सच्चा निर्वेद या वैराग्य तभी समझना चाहिए जब विषयों के प्रति विरक्ति हो जाय और अन्तःकरण में तनिक भी विषयों की लालसा न रहे। इस प्रकार निर्वेद का तात्कालिक फल कामभोगों से मन का निवृत्त होना है।

किसी भी प्राणी को कष्ट देना आरंभ है और पर-पदार्थ के प्रति ममता होना परिग्रह है। आरम्भ और परिग्रह से तभी मुक्ति मिल सकती है जब विषयभोगों से मन निवृत्त हो जाय। आरंभ परिग्रह का त्यागी ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप मोक्षमार्ग को स्वीकार करके भवभ्रमण से बच जाता है। इस प्रकार निर्वेद का

परम्पराफल मोक्ष है और तात्कालिक फल विषयभोग से निवृत्त होना है।

शास्त्र कहता है कि आरभ-परिग्रह ही समस्त पापों का कारण है। अतएव आरंभ-परिग्रह से बचने का प्रयत्न करो, उलटे उसमें फँसने की चेष्टा मत करो। अगर सांसारिक पदार्थों को ज्ञान की दृष्टि से देखा जाय तो उनमें फँसने की अभिलाषा ही न होगी। ससार के पदार्थ कामी पुरुषों के चित्त में कामना उत्पन्न करते हैं और ज्ञानी पुरुषों के मन में ज्ञान पैदा करते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव भले ही आरम्भ परिग्रह का तत्काल त्याग न कर सके, किन्तु वह उन्हें उपादेय नहीं समझेगा। और जो उपादेय नहीं समझता, उसीको सम्यग्दृष्टि समझना चाहिए।

४—अनुकम्पा

अनुकम्पा सम्यक्त्व का चौथा लक्षण है। अपनी ओर से किसी भी प्राणी को भय या कष्ट न पहुँचाना और दूसरे से भय या कष्ट पाते हुए जीव को उससे मुक्त करने का प्रयत्न करना अनुकम्पा है। अनुकम्पा धर्म की पहली सीढ़ी है। यह प्रायः सर्वमान्य धर्म है। अनुकम्पा के विना धर्म की कल्पना ही नहीं की जा सकती। जो सम्यग्दृष्टि प्राप्त कर लेता है, उसके अन्त करण में अनुकम्पा की पुनीत भावना जागृत न हो, यह असम्भव है। यही कारण है कि अनुकम्पा को सम्यक्त्व का लक्षण बतलाया गया है।

यों तो अनुकम्पा का गुण हीनाधिक परिमाण में प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान रहता है, किन्तु स्वार्थ के कारण हृदय में चंचलता आने पर अनुकम्पा अदृश्य हो जाती है। गाय किसी को,

यहाँ तक कि कसाई को भी खट्टा दूध नहीं देती। फिर भी कसाई के हृदय में स्वार्थ या विषयवासना के कारण चंचलता उत्पन्न होती है तो वह निर्दयता पूर्वक गाय की हत्या करता है। विषयवासना से हृदय में चंचलता उत्पन्न होती है और चंचलता के कारण अनुकम्पा का भाव कम हो जाता है।

जब संवेग की जागृति से संसार के प्रति विरक्ति जाग उठती है और निर्वेदभाव से विषयवासनाओं के प्रति आसक्ति नष्ट हो जाती है, तब चित्त की चंचलता हट जाती है और अनुकम्पा की अमृतमयी भावना से हृदय पवित्र हो जाता है।

अनुकम्पा से जिसका हृदय पवित्र बन गया होगा, वह ऐसे वस्त्र कदापि न पहनेगा जिनकी बदौलत संसार में बेकारी बढ़े। वह ऐसा भोजन कदापि न करेगा जिसके कारण दूसरों को भूख के मारे तड़प-तड़प कर मरना पड़े। उसके प्रत्येक व्यवहार में गरीबों की भलाई का विचार होगा। उसके हृदय में दुखियों के प्रति संवेदना जागृत होगी। वह उनके सुख के लिए प्रयत्नशील होगा उनकी सहायता करेगा। वह दूसरों के दुख को अपना ही दुख समझेगा। दूसरे की विपत्ति को अपनी ही विपत्ति मानेगा।

कुछ लोगों ने अनुकम्पा के सावद्य और निरवद्य भेद करके, दुखियों का दुख दूर करने में एकान्त पाप की कल्पना करली है, किन्तु यह मान्यता जैनागमों से विरुद्ध है। अनुकम्पा हृदय की एक पावन वृत्ति है और वह किसी भी स्थिति में सावद्य नहीं होती। शास्त्रों में अनुकम्पा को सम्यक्त्व का लक्षण प्रतिपादन करके यह सूचित कर दिया गया है कि अनुकम्पा के अभाव में सम्यक्त्व की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती।

५—आस्तिक्य

आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करना तथा परलोक, स्वर्ग, नरक, तथा पुण्य और पाप को मानना आस्तिक्य कहलाता है। आत्मा यद्यपि स्वभाव से (द्रव्य से) अजर-अमर है, तथापि वह पुण्य और पाप का उपार्जन करके स्वर्ग और नरक आदि विविध पर्यायों को भोगता है। इस प्रकार द्रव्य से नित्य होने पर भी पर्याय से वह एक भव को त्याग कर दूसरे भव को ग्रहण करता है। यह भवान्तर पुण्य और पाप का अस्तित्व स्वीकार किये बिना नहीं बन सकता, अतएव पुण्य-पाप तत्त्व भी हैं। इस प्रकार की आस्था रखना आस्तिक्य कहलाता है।

सम्यग्दर्शन के उत्पन्न होने पर आस्तिकता का भाव अवश्य उत्पन्न हो जाता है। जिसमें आस्तिकता नहीं है, समझना चाहिए कि उसमें सम्यक्त्व भी नहीं है।

आत्मा का अस्तित्व क्यों अंगीकार करना चाहिए? और उसका अस्तित्व सिद्ध करने वाले प्रमाण क्या हैं? यह एक लम्बी चर्चा है। वह चर्चा यहां प्रासंगिक हो सकती है, परन्तु इतने विस्तार में जाने का अवकाश नहीं है। यहां इतना ही कह देना पर्याप्त है कि आत्मा के विषय में प्रथम तो स्वानुभव ही प्रमाण है। फिर सर्वज्ञ देव का कथन भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करता है। अनुमान प्रमाण से और तर्क से भी आत्मा की सत्ता सिद्ध की जा सकती है। अगर आत्मा का अस्तित्व न होता तो उसका विधान और निषेध करता ही कौन? आखिर आत्मा का निषेध करने वाला भी तो आत्मा ही है।

इस प्रकार आत्मा और परलोक आदि पर श्रद्धा रखना भी समकित का लक्षण है। इन्हीं पाँच लक्षणों से सम्यक्त्व की पहचान होती है।

यहाँ यह बात विस्मरण न कर देना चाहिए कि सम्यक्त्व देने या लेने की वस्तु नहीं है वह तो आत्मा की विशुद्धि से उत्पन्न होने वाला गुण है। सम्यक्त्व लेना तो व्यवहार मात्र है। वीतराग की वाणी पर अडिग श्रद्धा रखने और दर्शनमोह तथा अनन्तानुबन्धी कषाय को नष्ट करने पर ही सम्यक्त्व प्राप्त हो सकता है।

सम्यक्त्व के अतिचार

प्राप्त हुए सम्यक्त्व को निर्मल रूप से कायम रखने के लिए पाँच अतिचारों से बचना चाहिए। वे पाँच अतिचार इस प्रकार हैं—(१) शंका (२) कांक्षा (३) विचिकित्सा (४) परपाखण्ड प्रशंसा और (५) परपाखण्ड संस्तव।

१—शंका

शंका दो प्रकार की है—देशशंका और सर्वशंका। किसी पदार्थ विशेष के किसी धर्म के सम्बन्ध में शंका होना देशशंका है और उस पदार्थ के अस्तित्व में ही शंका होना सर्वशंका है। उदाहरणार्थ-आत्मा त्रिकाल में असंख्यात प्रदेशों वाला है। पर किसी को ऐसी शंका हो कि आत्मा का अस्तित्व तो है, पर न जाने वह असंख्यात प्रदेशी है या नहीं? आत्मा सर्वव्यापी है, परमाणु-मात्र है अथवा अपने प्राप्त शरीर के बराबर है? इस प्रकार की शंकाएँ देश शंकाएँ हैं। और क्या पता है कि-आत्मा का अस्तित्व है या नहीं? इस प्रकार की शंका सर्वशंका है।

आखिर उसने वह डिब्बा ले लिया। चोर विद्या साधने में लग गया। थोड़ी ही देर में उसने विद्या साध ली और आकाशगामिनी विद्या की सहायता से वह उड़ गया। रत्नों का डिब्बा लिये सेठ का लड़का बाग से बाहर निकला। लोगों ने उसे 'चोर-चोर' कह कर पकड़ लिया। उसने बहुतेरा कहा कि मैं चोर नहीं हूं। पर उसकी बात सुनने को कोई तैयार नहीं था।

इसी तरह गुरुदेव ने आध्यात्मिक विद्या देकर कहा है कि इस विद्या का जाप करते रहना और एक-एक तार तोड़ते जाना। सब तार टूट जाने पर सिद्धि प्राप्त हो जायगी। अगर इस विद्या को पा करके भी शंका ही शंका में रहा तो यों ही रह जायगा और यदि शंका न लाकर विद्या को साध लेगा तो परम ऊर्ध्वगामी बन जायगा। जो गुरु की दी हुई विद्या पर विश्वास रखता है वह उस चोर की तरह पार हो जाता है और जो उस पर अविश्वास करता है, वह फँस जाता है। जो संशय रखता है वह संसार में भटकता फिरता है।

संसार-भ्रमण के आदि-हेतु का नाम मिथ्यात्व है। शंका या संशय भी एक प्रकार का मिथ्यात्व ही है। मिथ्यात्व के तीन भेद हैं, आभिग्रहिक मिथ्यात्व अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व और संशय-मिथ्यात्व। झूठी जिद पकड़ लेना आभिग्रहिक मिथ्यात्व है। जिद न हो पर निर्णय भी न हो तो अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व है और तत्त्व में शंका करना सांशयिक मिथ्यात्व है।

अर्हन्त के प्रवचन की और सब बातें मान करके भी जो एक बात के विषय में भी शंकायुक्त होता है वह अपने सम्यक्त्व को दूषित करता है। जो मोक्ष की इच्छा रखता है और अपना कल्याण

चाहता है उसे वीतराग की वाणी पर लेश मात्र भी सन्देह न रख कर पूर्ण श्रद्धा रखना चाहिए। उसे विचारना चाहिए:—

तमेव सच्च णीसंकं, ज जिणेहिं पवेइय ।

जिनेन्द्र भगवान् ने जो कहा है, वही सत्य है और वही असदिग्ध है। प्रश्न होता है कि जो बात हमारी समझ में नही आई है, उसे सर्वज्ञ-वचन पर श्रद्धा रख कर मानने के लिए कहना एक प्रकार की जबर्दस्ती है। इसके उत्तर मे हम युक्ति पूर्वक सिद्ध करेंगे कि सर्वज्ञ के वचन सन्देह रहित हैं।

जो वीतराग और सर्वज्ञ है, उसके वचन सत्य ही होते हैं। जिनमें रच मात्र भी कषाय और अज्ञान शेष नहीं रहा है, वह कदापि असत्य भाषण नहीं कर सकते। अतएव जिन अनुभव में आने वाले पदार्थों को सर्वज्ञ के वचन के आधार पर मानते हो, अनुभव से पर पदार्थों को भी उन्हीं सर्वज्ञ के वचन के आधार पर मानो। उनके विषय में सन्देह मत रक्खो। आप किसी आदमी पर विश्वास रखते हैं और उसे सत्यभाषी मानते हैं। उसकी पच्चीस बातों में से बीस बातें आपको जॅच गई, परन्तु पाँच बातें नहीं जँचती हैं। परन्तु जब आप उसे सत्यभाषी समझते हैं तो उन बीस बातों की सचाई के आधार पर न जँचने वाली पाँच बातों को भी सत्य ही मानना चाहिए। यदि आप न जँचने वाली पाँच बातों को सत्य नहीं मानते हैं, तो फिर आपकी दृष्टि मे वह पुरुष सत्यभाषी नहीं ठहरता। इसी प्रकार वीतराग की कही हुई और बातें तो आपको जँचती हैं, परन्तु कोई बात नहीं जॅचती तो भी उस न जँचने वाली बात के विषय में सन्देह न रखकर, जिस आधार पर और बातों को ठीक मानते हो, उसी आधार पर उस ठीक न जँचने वाली बात को भी ठीक मान

आत्मा है या नहीं है ? यह शंका इन्द्रभूतिजी को भी थी। भगवान् ने उनके बिना कहे ही उनकी शंका प्रकट करदी। इन्द्रभूति आश्चर्य में पड़ गये। वह विचारने लगे-मैंने अनेकों वादियों को जीता है। नास्तिक को आस्तिकवाद से और आस्तिक को नास्तिक वाद से जीता है। लेकिन मेरे मन की बात इस तरह कोई नहीं जान सका।

भगवान् ने इन्द्रभूति से कहा-आत्मा के विषय में और सब बातें छोड़कर तुम केवल इसी बात पर विचार करो कि आत्मा न होती तो आत्मा के विषय में शंका ही कौन करता ? आत्मा है, तभी तो उसे अपने विषय में शंका होती है। फिर शंका समाधान का यह खेल ही न होता।

इन्द्रभूतिजी दुराग्रही नहीं थे। इसलिए भगवान् की बात मान कर उन्होंने अपनी शंका दूर कर दी।

सो इस प्रकार की शंका सर्व शंका है और यह सम्यक्त्व को नहीं होने देती या उसे नष्ट कर देती है।

शंका को त्याग कर विश्वास करने और शंका रख कर अविश्वास करने से क्या लाभ-हानि है यह बताने के लिए एक दृष्टान्त लीजिए—

एक सेठ ने सिद्ध की सेवा की। सिद्ध ने प्रसन्न होकर सेठ को एक विद्या बताकर कहा—शरद् पूर्णिमा की रात्रि में, एक झाड़ के नीचे भट्टी खोद कर उस पर तेल का कड़ाहा रखना और नीचे आग जलाना। फिर झाड़ पर सूत का छींका बांध उसमें बैठ जाना

और मन्त्र का जप करते हुए एक-एक सूत तोड़ते जाना। जब सब सूत टूट जाएँगे, तब तुझे आकाशगामिनी विद्या सिद्ध हो जायगी। और यदि शंका करेगा तो मर जायगा।

सेठ मालदार था। उसे आकाशगामिनी विद्या सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं थी। अतएव उसने सिद्ध का बतलाया हुआ मन्त्र, विधि सहित लिख रक्खा। सेठ मर गया। उसके लड़के ने सब धन उड़ा दिया। एक दिन वह पिता के जमाने के कागजात देख रहा था। उसमें लिखी हुई वह विद्या उसे मिल गई। वह लड़का मन्त्र साधन की सामग्री लेकर एक बाग में गया। वहाँ उसने वृक्ष के नीचे तेल का कड़ाह भी चढ़ा दिया। वह सूत का सींका बाध कर झाड़ पर चढा भी, परन्तु सींके में बैठने के समय उसे डर मालूम हुआ। उसे शका हुई-कहीं मेरे बैठने पर सींका टूट गया तो बेमौत मारा जाऊँगा। इस भय के कारण वह कभी पेड़ पर चढ़ता, कभी उतरता था।

उसी नगर में एक चोर ने चोरी की। लोग जाग गये और चोर के पीछे दौड़े। भागता हुआ चोर उसी बाग में घुस गया। दौड़ने वालों ने बाग को चारों ओर से घेर लिया।

सेठ के लड़के को बार-बार पेड़ पर चढ़ते-उतरते देख चोर ने ऐसा करने का कारण पूछा। लड़के ने उसे सब बात बतला दी। चोर ने सोचा-बाप अपने बेटे को खोटी शिक्षा कभी नहीं दे सकता। फिर उस लड़के को चोरी करके लाया हुआ रत्न का डिब्बा देकर कहा-यह विद्या मुझे साधने दो।

सेठ के लड़के ने सोचा-अपने लिए तो रत्नों का डिब्बा ही काफी है। इस खतरनाक विद्या को सीखने के झमेले में कौन पड़े

आत्मा है या नहीं है ? यह शंका इन्द्रभूतिजी को भी थी। भगवान् ने उनके बिना कहे ही उनकी शंका प्रकट करदी। इन्द्रभूति आश्चर्य में पड़ गये। वह विचारने लगे मैंने अनेकों शास्त्रों को जीता है। नास्तिक को आस्तिकवाद से और आस्तिक को नास्तिक वाद से जीता है। लेकिन मेरे मन की बात इस तरह कोई नहीं जान सका।

भगवान् ने इन्द्रभूति से कहा-आत्मा के विषय में और सब बातें छोड़कर तुम केवल इसी बात पर विचार करो कि आत्मा न होती तो आत्मा के विषय में शंका ही कौन करता ? आत्मा है, तभी तो उसे अपने विषय में शंका होती है। फिर शंका समाधान का यह काम ही न होता।

इन्द्रभूतिजी दुराग्रही नहीं थे। इसलिए भगवान् की बात मान कर उन्होंने अपनी शंका दूर कर दी।

तो इस प्रकार की शंका सर्व शंका है और यह सम्यक्त्व को नहीं होने देती या उसे नष्ट कर देती है।

शंका को त्याग कर विश्वास करने और शंका रख कर अविश्वास करने से क्या लाभ-हानि है यह बताने के लिए एक दृष्टान्त लीजिए—

एक सेठ ने सिद्ध की सेवा की। सिद्ध ने प्रसन्न होकर सेठ को एक विद्या बताकर कहा—शरद् पूर्णिमा की रात्रि में, एक झाड़ के नीचे गड्ढा खोद कर उस पर तेल का कड़ाहा रखना और नीचे आग जलाना। फिर झाड़ पर सूत का छींका बांध उसमें बैठ जाना

चाहता है उसे वीतराग की वाणी पर लेश मात्र भी सन्देह न रख कर पूर्ण श्रद्धा रखना चाहिए। उसे विचारना चाहिए:—

तमेव सच्चं णीसंकं, ज जिणेहिं पवेइय ।

जिनेन्द्र भगवान् ने जो कहा है, वही सत्य है और वही असंदिग्ध है। प्रश्न होता है कि जो बात हमारी समझ में नहीं आई है, उसे सर्वज्ञ-वचन पर श्रद्धा रख कर मानने के लिए कहना एक प्रकार की जबर्दस्ती है। इसके उत्तर में हम युक्ति पूर्वक सिद्ध करेंगे कि सर्वज्ञ के वचन सन्देह रहित हैं।

जो वीतराग और सर्वज्ञ है, उसके वचन सत्य ही होते हैं। जिनमें रच मात्र भी कषाय और अज्ञान शेष नहीं रहा है, वह कदापि असत्य भाषण नहीं कर सकते। अतएव जिन अनुभव में आने वाले पदार्थों को सर्वज्ञ के वचन के आधार पर मानते हो, अनुभव से पर पदार्थों को भी उन्हीं सर्वज्ञ के वचन के आधार पर मानो। उनके विषय में सन्देह मत रक्खो। आप किसी आदमी पर विश्वास रखते हैं और उसे सत्यभाषी मानते हैं। उसकी पच्चीस बातों में से बीस बातें आपको जँच गई, परन्तु पाँच बातें नहीं जँचती हैं। परन्तु जब आप उसे सत्यभाषी समझते हैं तो उन बीस बातों की सचाई के आधार पर न जँचेन वाली पाँच बातों को भी सत्य ही मानना चाहिए। यदि आप न जँचने वाली पाँच बातों को सत्य नहीं मानते हैं, तो फिर आपकी दृष्टि में वह पुरुष सत्यभाषी नहीं ठहरता। इसी प्रकार वीतराग की कही हुई और बातें तो आपको जँचती हैं, परन्तु कोई बात नहीं जँचती तो भी उस न जँचने वाली बात के विषय में सन्देह न रखकर, जिस आधार पर और बातों को ठीक मानते हो, उसी आधार पर उस ठीक न जँचने वाली बात को भी ठीक मान

आखिर उसने वह विद्या ले लिया। चोर विद्या साधने में लग गया। थोड़ी ही देर में उसने विद्या साध ली और आकाशगामिनी विद्या की सहायता से वह उड़ गया। रत्नों का डिब्बा लिये सेठ का लड़का बाग से बाहर निकला। लोगों ने उसे 'चोर-चोर' कह कर पकड़ लिया। उसने बहुतेरा कहा कि मैं चोर नहीं हूं। पर उसकी बात सुनने को कोई तैयार नहीं था।

इसी तरह गुरुदेव ने आध्यात्मिक विद्या देकर कहा है कि इस विद्या का जाप करते रहना और एक-एक तार काटते जाना। सब तार टूट जाने पर सिद्धि प्राप्त हो जायगी। अगर इस विद्या को पा करके भी शंका ही शंका में रहा तो यों ही रह जायगा, और यदि शंका न लाकर विद्या को साध लेगा तो परम ऊर्ध्वगामी बन जाएगा। जो गुरु की दी हुई विद्या पर विश्वास रखता है वह उस चोर की तरह पार हो जाता है और जो उस पर अविश्वास करता है, वह फँस जाता है। जो संशय रखता है वह संसार में भटकता फिरता है।

संसार-भ्रमण के आदि हेतु का नाम मिथ्यात्व है। शंका या संशय भी एक प्रकार का मिथ्यात्व ही है। मिथ्यात्व के तीन भेद हैं, आभिग्रहिक मिथ्यात्व अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व और संशय मिथ्यात्व। झूठी जिद पकड़ लेना आभिग्रहिक मिथ्यात्व है। जिद न हो पर निर्णय भी न हो तो अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व है और तत्त्व में शंका करना सांशयिक मिथ्यात्व है।

भगवान् के प्रवचन की और सब बातें मान करके भी जो एक बात के विषय में भी शंकायुक्त होता है, वह अपने सम्यक्त्व को दूषित करता है। जो मोक्ष की इच्छा रखता है और अपना कल्याण

चाहता है उसे वीतराग की वाणी पर लेश मात्र भी सन्देह न रख कर पूर्ण श्रद्धा रखना चाहिए। उसे विचारना चाहिए:—

तमेव सच्चं णीसंकं, ज जिणेहिं पवेइय ।

जिनेन्द्र भगवान् ने जो कहा है, वही सत्य है और वही असंदिग्ध है। प्रश्न होता है कि जो बात हमारी समझ में नहीं आई है, उसे सर्वज्ञ-वचन पर श्रद्धा रख कर मानने के लिए कहना एक प्रकार की जबर्दस्ती है। इसके उत्तर में हम युक्ति पूर्वक सिद्ध करेंगे कि सर्वज्ञ के वचन सन्देह रहित हैं।

जो वीतराग और सर्वज्ञ है, उसके वचन सत्य ही होते हैं। जिनमें रंच मात्र भी कषाय और अज्ञान शेष नहीं रहा है, वह कदापि असत्य भाषण नहीं कर सकते। अतएव जिन अनुभव में आने वाले पदार्थों को सर्वज्ञ के वचन के आधार पर मानते हो, अनुभव से पर पदार्थों को भी उन्हीं सर्वज्ञ के वचन के आधार पर मानो। उनके विषय में सन्देह मत रक्खो। आप किसी आदमी पर विश्वास रखते हैं और उसे सत्यभाषी मानते हैं। उसकी पच्चीस बातों में से बीस बातें आपको जँच गई, परन्तु पाँच बातें नहीं जँचती हैं। परन्तु जब आप उसे सत्यभाषी समझते हैं तो उन बीस बातों की सचाई के आधार पर न जँचेन वाली पाँच बातों को भी सत्य ही मानना चाहिए। यदि आप न जँचने वाली पाँच बातों को सत्य नहीं मानते हैं, तो फिर आपकी दृष्टि में वह पुरुष सत्यभाषी नहीं ठहरता। इसी प्रकार वीतराग की कही हुई और बातें तो आपको जँचती हैं, परन्तु कोई बात नहीं जँचती तो भी उस न जँचने वाली बात के विषय में सन्देह न रखकर, जिस आधार पर और बातों को ठीक मानते हो, उसी आधार पर उस ठीक न जँचने वाली बात को भी ठीक मान

लेना उचित है। समझना चाहिए कि-हे आत्मन् ! तू यह न समझ कि सब बातों का निर्णय मैं ही करलूँ। मतिदौर्बल्य या क्षयोपशम की हीनता के कारण तू ऐसा करने का अधिकारी नहीं है। तेरे मतिज्ञान आदि पर आवरण हैं, अतएव तू सब बातों और सब पदार्थों का निर्णय नहीं कर सकता। तू कुछ बातों का प्रत्यक्ष से निर्णय कर सकता है कुछ के लिए अनुमान प्रमाण का आश्रय लेना पड़ेगा और कुछ के लिए आगम प्रमाण को ही मानना होगा। जैसे आगामी काल के विषय में तू प्रत्यक्ष से कुछ भी नहीं जानता, किन्तु अनुमान से तो आगामी काल को मानता ही है। दीवाल के पीछे कुछ है, यह बात तू अनुमान से ही मानता है। तू छद्मस्थ है, अभी तुझे पूर्ण ज्ञान नहीं है। इस कारण तू सभी पदार्थों को प्रत्यक्ष नहीं देख सकता, फिर भी अनुमान से मानता है। इसी प्रकार सर्वज्ञ की कही हुई सब बातों को तू साक्षात् नहीं देख सकता, फिर भी उन्हें सर्वज्ञोक्त होने के कारण ही मान ले।

संशय किस प्रकार मिट सकता है, यह बताने के लिए एक दृष्टान्त दिया गया है। वह इस प्रकार है—

दो विद्यार्थी पढ़ कर घर आये। माता ने उनके लिए पेय पदार्थ तैयार किया। उनमें से एक ने विचार किया—यद्यपि यह माता है, फिर भी क्या मालूम, इसने इसमें विष मिला दिया हो! कई माताएँ अपने लड़कों को ज़हर देकर मार भी तो डालती हैं! इस प्रकार संशय रख कर भी उसने वह पेय पी लिया और संशय के कारण ही वह मर गया।

दूसरे ने सोचा-माँ कभी ज़हर नहीं दे सकती। वह तो अपने लड़के को अमृत ही देती है। इस प्रकार अमृत की भावना रख कर पिया तो उसके लिए वह अमृत रूप ही परिणत हुआ।

इस प्रकार भावना के कारण ही पहला विद्यार्थी मर गया। विष न होने पर भी विष की शंका मात्र से उस पदार्थ ने विष का काम किया।

इतिहास में प्रसिद्ध है कि कृष्णाकुमारी को पहले दूध की तरह का विषप्याला दिया गया था। उसके मन में किसी प्रकार का संदेह नहीं था। वह दूध समझ कर उसे पी गई तो विष होते हुए भी उस पर विष का असर नहीं हुआ। दूसरी बार भी उसके मन में सन्देह नहीं था, अतएव दूसरे विष-प्याले का भी उस पर कुछ प्रभाव न पड़ा। किन्तु तीसरा प्याला उसने विष समझ कर ही पिया, इससे वह मर गई। इस प्रकार संशय न होने पर जहर ने भी अमृत का काम किया और विद्यार्थी ने अमृत में भी जहर का संदेह किया तो वह मर गया।

अमेरिका के अन्वेषक डाक्टरों ने एक मृत्युदण्ड प्राप्त कैदी माँगा। उन डाक्टरों ने उस कैदी को मेज पर सुला दिया। फिर उसकी आँखों पर पट्टी बाँध दी। इसके बाद उन्होंने गर्दन पर जरा-सा औजार लगा दिया और जहाँ औजार लगाया था, उसी जगह से, नल के द्वारा पानी गिराया। यद्यपि वे पानी बहा रहे थे, पर कहते थे—बहुत खून गिर रहा है! अब यह नहीं बचेगा, बस मरने ही वाला है! इस प्रकार डाक्टरों की बात सुनकर और पानी को खून समझ कर वह कैदी मर गया। कैदी के शरीर में से रक्त की एक भी बूंद नहीं निकली थी, लेकिन डाक्टरों के कथन पर वह विश्वास कर रहा था, इस कारण मर गया।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी-अपनी श्रद्धा के अनुसार फल प्राप्त होता है। अगर आप वीतराग के वचन पर

प्रगाढ़ श्रद्धा रक्खोगे तो सुफल ही प्राप्त होगा।

अठारह दोषों को पूर्ण रूप से जीत लेने वाले परमात्मा अरिहन्त या वीतराग कहलाते हैं। अठारह दोष इस प्रकार हैं:—

(१) मिथ्यात्व (२) अज्ञान (३) क्रोध (४) मान (५) माया (६) लोभ (७) रति—विषयों के प्रति अनुराग (८) अरति—धर्म के प्रति अरुचि (९) निद्रा (१०) शोक (११) असत्य (१२) चौर्य (१३) मात्सर्य (१४) भय (१५) हिंसा (१६) प्रेम (१७) क्रीड़ा और (१८) हास्य।

इन दोषों के स्वरूप पर विचार करने से स्पष्ट प्रतीत होगा कि इनमें से अधिकांश मोहनीय कर्म के उदय से होते हैं। अज्ञान ज्ञानावरण कर्म के और निद्रा दर्शनावरण कर्म के उदय का फल है। अतएव जिसने चारों घाति कर्मों का सर्वथा क्षय कर दिया है, उसमें कोई भी दोष नहीं हो सकता और जैनागम के अनुसार अरिहन्त पद का अधिकारी वही है जिसने घाति कर्मों का क्षय कर दिया हो। इस प्रकार अरिहन्त या वीतराग देव पूर्ण रूप से निर्दोष होने के कारण यथार्थ वक्ता हैं और उनके वचनों पर शंका करने का कोई कारण नहीं।

अठारह दोषों से रहित वीतराग के वचन पर शंका तो होनी ही नहीं चाहिए। आत्मा जब तक किसी वस्तु में निःसन्देह नहीं बनता, तब तक उस वस्तु को अपना भी नहीं सकता। उदाहरण के लिए पति और पत्नी को ही लो। किसी पुरुष का किसी स्त्री के साथ विवाह हो चुका है। मगर पत्नी सोचती रहती है—न जाने पति मेरे साथ कैसा व्यवहार करेगा? इस प्रकार वह पति पर शंका करती हुई यही सोचा करे कि यदि मेरे साथ ऐसा—वैसा व्यवहार हुआ तो मैं इसे तलाक दे दूँगी और दूसरा पति बना लूँगी।

और पति भी अपनी पत्नी के प्रति सशंक बना रहे। वह सोचे-कहीं यह भोजन में विष मिला कर मुझे न दे दे! तो इस प्रकार का शंकामय दाम्पत्यजीवन कितने दिन निभेगा? वह ज्यादा दिन निभने वाला नहीं, और जितने दिन निभेगा भी, वह सुख-शान्तिमय नहीं रह सकेगा। सन्देह का आधिक्य होने के कारण अमेरिका में ९५ प्रतिशत विवाह सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाते हैं। एक तरफ विवाह हुआ और दूसरी तरफ तलाक हुआ। भला यह भी कोई विवाह है! मतलब यह है कि जब तक पारस्परिक विश्वास न होगा, किसी भी दशा मे, जीवन में, शान्ति नहीं मिल सकती। इसी से कहा है—

संशयात्मा विनश्यति।

अर्थात्—सदा सन्देह में डूबा रहने वाला नष्ट हो जाता है।

इस प्रकार जब व्यवहार में भी सन्देह रहने से काम नहीं चलता, तब धर्म में जिस वस्तु को अच्छी समझते हैं, उस पर शंका रखने से काम कैसे चलेगा? सन्देह होने पर सम्यक्त्व का टिकना सम्भव नहीं।

कहा जा सकता है-सन्देह करने से एकान्त हानि नहीं, लाभ भी होता है। नीतिकार भी कहते हैं—

न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति।

अर्थात्—संशय पर आरूढ हुए विना मनुष्य का कल्याण नहीं होता। भगवान् गौतम स्वामी के लिए भी कई जगह 'जायसंसए' पाठ आया है। इसका अर्थ यह है कि उन्हें संशय उत्पन्न हुआ। ऐसी स्थिति में संशय को एकान्त विनाशक भी कैसे कहा जा सकता है?

इसका उत्तर यह है कि शंका या संशय का प्रादुर्भाव दो प्रकार से होता है-श्रद्धापूर्वक भी और अश्रद्धापूर्वक भी। गौतम स्वामी को जो संशय हुआ था वह श्रद्धापूर्वक था। उन्हें भगवान के वचन की सत्यता में संशय नहीं था। उन्हें जो संशय हुआ था वह इस रूप में था कि भगवान् का वचन ऐसा है या नहीं? अमुक विषय में भगवान् क्या कहते हैं? इस सन्देह में अश्रद्धा नहीं, श्रद्धा ही गर्भित है। इस प्रकार की शंका सम्यक्त्व का नाश करने वाली नहीं है। यह अश्रद्धा से नहीं जिज्ञासा से उत्पन्न होती है। इससे तत्त्व के सम्बन्ध में अधिक ज्ञान प्राप्त किया जाता है और लाभ उठाया जाता है। ऐसी ही शंका के लिए कहा गया है कि संशय के बिना मनुष्य का कल्याण नहीं होता।

दूसरे प्रकार की शंका जो अश्रद्धा से उत्पन्न होती है, मनुष्य को नाश की ओर ले जाती है। उससे कोई लाभ नहीं होता हानि ही होती है। क्या धर्म और क्या व्यवहार, सभी कुछ उस शंका के कारण गड़बड़ में पड़ जाते हैं। किसी आदमी को रेलगाड़ी में बैठ कर सफर करना है, परन्तु कभी-कभी रेलगाड़ी आपस में लड़ जाती है या उलट जाती है। इस बात को लेकर वह शंका करने लगे तो कैसे सफर कर सकेगा? वह जिस मकान में रहता है उसके गिर पड़ने का ही जिसे रात-दिन संशय बना रहेगा, वह कब शान्ति से रह सकेगा? इसी आशय से कहा गया है—

शंकाभिः सर्वमाक्रान्तमन्नं पानं च भूतले।
प्रवृत्तिः कुत्र कर्त्तव्या, जीवितव्यं कथं नु वा॥

इस भूतल पर भोजन, पानी आदि सभी वस्तुएँ शंकास्पद हैं। फिर मनुष्य कहाँ प्रवृत्ति करे? और कैसे जीवित रहे?

वास्तव मे सन्देहशील व्यक्ति का जीवन निभ नहीं सकता। किसी लड़की को विवाह करना है, परन्तु उसे यह सशय बना रहे कि कहीं पति मर जाय और मैं विधवा हो जाऊँ तो ? संशय की इस स्थिति में, विवाह कर लेने पर भी क्या वह सुखी रह सकेगी ? मतलब यह है कि अश्रद्धाजन्य सशय से मनुष्य-जीवन निभ नहीं सकता।

यह ठीक है कि मनुष्य जब किसी कार्य को आरम्भ करे तो उसमें आने वाली अडचनों पर भी विचार कर देखे और उनके विषय में सावधानी रक्खे, परन्तु सशय में ही न पडा रहे ।

श्रद्धा के बल पर ही मन्त्र आदि काम करते है । मैंने बचपन में डू ठी का मन्त्र सीखा था, और पेट पर हाथ फेर कर ही डू ठी ठिकाने ला देता था। थोड़े दिनों में मेरी प्रसिद्धि हो गई। लोग मुझे बुलाने लगे । काम में हर्ज होने लगा । मेरे गृहस्थावस्था के मामाजी ने मुझसे कहा–यह क्या धन्धा फैला रक्खा है ? काम-काज को छोड़ कर वृथा जाना पड़ता है। मैंने सोचा–अब मैं बिना मन्त्र पढे ही लोगों के पेट पर हाथ फेर दिया करूँगा, जिससे उनकी डूंठी ठिकाने न आया करेगी और मैं बुलाया जाने से बच जाऊँगा । मैं ऐसा ही करने लगा-बिना मन्त्र पढे हाथ फेरने लगा । फिर भी लोगों की डू ठी ठिकाने आ जाती थी। अब विचार कीजिए कि मन्त्र न पढ़ने पर भी डूंठी के ठिकाने आ जाने का कारण, रोगी का मन्त्र पर विश्वास होने के सिवाय और क्या हो सकता है ? इसके विरुद्ध, अगर कोई व्यक्ति मन्त्र पर अविश्वास करता है तो उस पर मन्त्र काम नहीं देता। इससे सिद्ध है कि विश्वास फलदायक होता है ।

अब एक नवीन प्रश्न पर विचार करें। कहा जाता है कि शास्त्र अलग-अलग हैं, उनके उपदेशक भी अलग-अलग हैं और उनके विचार भी अलग-अलग हैं। वे परस्पर विरोधी विचार प्रकट करते हैं। ऐसी दशा में हम किस पर विश्वास करें और किस पर न करें? कोई शास्त्र की दुहाई देकर एक दूसरे के गले पर छुरी फेरने को कहता है और दूसरा ऐसा करने के लिए मना करता है। हम किसे सत्य मानें? क्या करें?

इस प्रकार के झगड़ों के कारण कई लोग तो धर्म से ही विमुख हो गये हैं। लेकिन ज्ञानी कहते हैं कि तुम्हें क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए, इसके लिए सर्वप्रथम अपनी आत्मा से ही पूछो। अपने अन्तरात्मा की आवाज सुन कर आप सत्य को स्वीकार कर लोगे और झूठ को त्याग दोगे। वैसे तो हीरा और काँच समान ही दिखते हैं, परन्तु रगड़ कर देखने से दोनों की वास्तविकता की परीक्षा हो जायगी और तब संशय को स्थान नहीं रहेगा।

परीक्षा करने के विषय में शास्त्र कहता है कि उन सिद्धान्तों में तो कभी सन्देह नहीं करना—जिनमें तपस्या, अहिंसा और क्षमा बतलाई है।

जं सुच्चा पडिवज्जंति तवं खंतिमहिंसयं।

इन सिद्धान्तों को तो अपनी परीक्षा की कसौटी बनाना। फिर जो बात इस कसौटी पर खरी उतरे, उसे ले लेना और जो खरी न उतरे उसे छोड़ देना।

वक्ता की परीक्षा से भी वचन की परीक्षा होती है। जो वक्ता निर्दोष है जिसमें राग-द्वेष और अज्ञान नहीं है, उसका वचन

यथार्थ ही होगा और जो वक्ता रागी है, द्वेषी है, अज्ञानी है, उसका वचन यथार्थ ही हो, यह नहीं कहा जा सकता। विभिन्न शास्त्रो में वर्णित देवों का स्वरूप समझ कर फिर उनके वचनों का अंदाज लगाना सरल हो जाता है। सच्चा देव वह है जो सर्वज्ञ और वीतराग है और उसी की वाणी कल्याणकारिणी हो सकती है।

अगर तुम सचमुच ही अपना कल्याण चाहते हो तो वीतराग भगवान् की वाणी पर विश्वास रखकर इसे अपने जीवन में स्थान दो। भगवान् की वाणी को अपने जीवन में ताने-वाने की तरह बुन लेने से अवश्य कल्याण होगा। भगवान् की वाणी कल्याणकारिणी है, मगर उसका उपयोग करके कल्याण करना अथवा न करना तुम्हारे हाथ की बात है। इस सम्बन्ध में भगवान् ने किसी पर किसी प्रकार का दबाव नहीं डाला है। भगवान मर्यादा-पुरुषोत्तम थे। वह मर्यादा को भग नहीं कर सकते थे। उनकी मर्यादा यह थी कि मेरे द्वारा किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुँचने पावे। ठोक-पीट कर समझाने से सामने वाले को कष्ट पहुँचता है। ऐसी स्थिति में भगवान् किसी को जबर्दस्ती कैसे समझा सकते थे ? भगवान् अभंग अहिंसा का परिपालन करते थे। किसी का दिल दुखाना भी हिंसा है, इसीलिए भगवान् ने किसी पर जोर-जबरदस्ती नहीं की। उन्होंने समुच्चयरूप में सभी को कल्याणकारी उपदेश दिया है। जिन्होंने भगवान् का उपदेश माना, उन्होंने अपना कल्याण-साधन कर लिया। जिन्होंने ऐसा नहीं किया वे अपने कल्याण से वञ्चित रह गये।

कई-एक चीजें श्रेष्ठ तो होती हैं, परन्तु दूसरों को कष्ट न पहुँचाने के विचार से बलात् नहीं दी जासकती। भगवान् की यह वाणी कल्याणकारिणी होने पर भी किसी को जबरदस्ती नहीं समझाई जा सकती, अतएव भगवान् ने समुच्चयरूप में ही उपदेश दिया है।

सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी को सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होने का जो महामार्ग बतलाया है, उस मार्ग पर आने के लिए श्रद्धा प्रवेशद्वार है। श्रद्धा का अर्थ किसी बात को निस्संदेह होकर मानना है। अमुक बात ऐसी ही है, इस प्रकार समझना श्रद्धा है। कई बार ऊपर से श्रद्धा प्रकट की जाती है, मगर ऊपरी श्रद्धा मात्र से कुछ काम नहीं चलता। अतएव सिद्धान्त-वचनों पर हृदयपूर्वक विश्वास करना चाहिए और प्रतीति भी करनी चाहिए। कदाचित सिद्धान्त-वचनों पर प्रतीति हो जाय तो भी कोरी प्रतीति से कुछ विशेष लाभ नहीं होगा। व्यवहार में लाये बिना प्रतीति मात्र से सिद्धान्तवाणी पूर्णफलप्रद नहीं होती। अतएव प्रतीति के साथ ही सिद्धान्तवाणी के प्रति रुचि भी उत्पन्न करनी चाहिए अर्थात् उसके अनुसार व्यवहार भी करना चाहिए। ऐसा करने से ही भगवान् की वाणी से पूर्ण लाभ उठाया जा सकता है।

एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट कर देना उचित होगा। मान लीजिये, एक रोगी डाक्टर से कहता है कि तुम्हारी दवा पर मुझे विश्वास है। यह श्रद्धा तो हुई मगर प्रतीति नहीं। प्रतीति तब होगी जब उस दवा से किसी का रोग मिट गया है, यह देख लिया जाय। इस प्रकार दूसरे का उदाहरण देखने से प्रतीति उत्पन्न होती है। डाक्टर विशारद और अनुभवी है, इस विचार से दवा पर श्रद्धा भी उत्पन्न हो जाती है, मगर प्रतीति तब होती है जब उसी दवा से दूसरे

का रोग मिट गया है, यह जान लिया जाय। मान लीजिए, दवाई पर प्रतीति भी हो गई, मगर कटुक होने के कारण दवा पीने की रुचि न हुई तो ऐसी दशा मे रोग कैसे नष्ट होगा? रोग का नाश करने वाली दवा पर रुचि रखकर उसका नियमित रूप से सेवन करने पर ही रोग नष्ट हो सकता है। रुचिपूर्वक दवा का सेवन किया जाय, नियमोपनियम का पालन किया जाय और अपथ्य सेवन न किया जाय, दवा से लाभ होगा ऐसा समझ कर हृदय से दवा की प्रशंसा की जाय तथा दवा सेवन करने में किसी प्रकार की भूल हुई हो तो डाक्टर का दोष न ढूँढ़ कर अपनी भूल सुधार ली जाय तो अवश्य रोग से छुटकारा हो सकता है। अन्यथा रोग से बचने का और क्या उपाय है?

इसी उदाहरण के आधार पर भगवान् महावीर की वाणी के सम्बन्ध में विचार करना चाहिए। महावीर भगवान् महावैद्य के समान हैं, जिन्होंने साढ़े बारह वर्ष तक मौन रहकर दीर्घ तपश्चर्या की थी और उसके फलस्वरूप केवलज्ञान तथा केवलदर्शन प्राप्त किया था और जगत जीवों को जन्म-जरा-मरण आदि भव-रोगों से मुक्त करने के लिए अहिंसा आदि रूप अमोघ दवा की खोज की थी। उन महावैद्य महावीर भगवान् ने जन्म जरा-मरण आदि भव रोगों से पीड़ित जगत्-जीवों को रोगमुक्त करने के लिए यह प्रवचन रूपी अमोघ औषध का आविष्कार किया है। सबसे पहले इस औषध पर श्रद्धा उत्पन्न करने की आवश्यकता है। ऐसे महान् त्यागी, ज्ञानी भगवान् की दवा पर भी विश्वास पैदा न होगा तो फिर किसकी दवा पर विश्वास किया जायगा? भगवान् की सिद्धान्तवाणी को सभी लोग विवेक की कसौटी पर नहीं कस सकते। सब लोग नहीं समझ सकते कि भगवान् की वाणी

में क्या माहात्म्य है ? अतएव साधारण जनता के लिये एकमात्र कामप्रद बात यही है कि वे उस पर अविचल भाव से श्रद्धा स्थापित करें। जब तक श्रद्धा उत्पन्न न होगी, तब तक काम भी नहीं हो सकता। इस कारण श्रद्धा को सब से अधिक महत्व दिया गया है। गीता में भी कहा है—

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो, यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।

अर्थात्—पुरुष श्रद्धामय है—श्रद्धा का ही पुञ्ज है और जो जैसी श्रद्धा करता है वैसा ही बन जाता है। यह बात व्यवहार से भी सिद्ध होती है। दर्जी के काम की श्रद्धा रखने वाला दर्जी बन जाता है और जो लुहार का काम करने की श्रद्धा रखता है वह लुहार बन जाता है। साधारण रूप से सिलाई का काम तो सभी कर लेते हैं परन्तु इस प्रकार का काम करने से कोई दर्जी नहीं बन जाता और न कोई अपने आपको दर्जी मानता ही है। इसका कारण यह कि सिलाई का काम करते हुए भी हृदय में उस काम की श्रद्धा नहीं है अर्थात् वह काम श्रद्धानपूर्वक नहीं किया जाता। अगर यही सीने का काम श्रद्धापूर्वक किया जाय तो दर्जी बन जाने में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता।

कहने का आशय यह है कि सर्वप्रथम भगवान् रूपी महावैद्य की वाणी रूपी दवा पर श्रद्धा रखने की आवश्यकता है। सिद्धान्तवाणी के विरुद्ध विचार नहीं होना चाहिए और साथ ही वाणी के ऊपर प्रतीति-विश्वास होना चाहिए। इस सिद्धान्तवाणी के प्रभाव से पापियों का भी कल्याण हो सकता है, ऐसा विश्वास दृढ़ होना चाहिए। भगवद्वाणी के अमोघ प्रभाव से अर्जुन माली और चण्डकौशिक सांप आदि पापी जीवों के कर्मरोगों का नाश हुआ

है। भगवान् की वाणी पर प्रतीति-विश्वास करने के बाद रुचि भी होनी चाहिए। कोई कह सकता है कि भगवान् की वाणी द्वारा अनेक पापी जीवों के पापों का क्षय हुआ है, यह तो ठीक है किन्तु उस वाणी पर रुचि लाना अर्थात् उसे जीवन व्यवहार मे उतारना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। मगर यदि भगवान की वाणी पर रुचि उत्पन्न नहीं हो तो समझना चाहिए कि अभी तक श्रद्धा और विश्वास में न्यूनता है। जो रोगी भय के कारण औषध का सेवन ही नहीं करता उसका रोग किस प्रकार मिट सकता है? सांसारिक जीव भगवान् की वाणी को जीवनव्यवहार में न लाने के कारण ही कष्ट भोग रहे हैं। यों तो अनादि काल से ही जीव उन्मार्ग पर चलकर दु ख भुगत रहे हैं, मगर उनसे कहा जाय कि सीधी तरह स्वेच्छा से कुछ कष्ट सहन करलो तो सदा के लिये दुःख से छूट जाओगे तो वे ऐसा करने को तैयार नहीं होते और इसी कारण वाणी रूपी औषध की विद्यमानता में भी वे कर्म-रोगो से पीड़ित हो रहे हैं।

भगवान् की वाणी रूपी दवा पर श्रद्धा प्रतीति रुचि करने के अनन्तर उसकी स्पर्शना भी करनी चाहिए। अर्थात् अपने बल, वीर्य और पराक्रम आदि का दुरुपयोग न करते हुए सिद्धान्तवाणी के कथनानुसार आत्मानुभव करने में ही उनका उपयोग करना चाहिए। इस तरह शास्त्रीय मर्यादा के अनुसार भगवद्-वाणी को जितने अश में स्वीकार किया हो तो उतने अश का बराबर पालन करना चाहिए और इसी प्रकार बढते हुए भगवद्वाणी के पार पहुँचना चाहिए।

आज बहुत से लोग आरम्भशूर दिखाई देते हैं। लोग किसी कार्य को प्रारम्भ तो कर देते हैं किन्तु उसे पूरा किये बिना ही छोड़ बैठते है। ऐसे आरम्भशूर लोग किसी कार्य को सम्पन्न नहीं कर

सकते । महापुरुष प्रथम तो बिना विचारे किसी कार्य को हाथ में लेते ही नहीं हैं और जिस काम में हाथ डालते हैं उसे भयंकर से भयंकर कष्ट आने पर भी अधूरा नहीं छोड़ते ।

इस प्रकार सिद्धान्तवाणी का मर्यादानुसार पालन करके पारंगत होना चाहिए और फिर यह वाणी जैसी कही जाती है वैसी ही है। मैं इस वाणी का पालन करके पार नहीं पहुँच सकता था किन्तु भगवान् की कृपा से पार पहुँचा हूँ' इस प्रकार कहकर भगवद् वाणी का संकीर्तन करना चाहिये । भगवद्वाणी को आचरण में उतारते किसी प्रकार का दोष हुआ हो तो उसका संशोधन करना चाहिए, किन्तु दूसरे पर दोषारोपण नहीं करना चाहिए। तत्पश्चात् 'आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया' इस कथन के अनुसार गुरुओं की आज्ञा को शिरोधार्य समझ कर भगवान् की वाणी का आज्ञानुसार पालन करना चाहिए ।

अपनी लौकिक दृष्टि से देखने पर इस शास्त्र के कोई कोई वचन समझ में न आवें यह संभव है, परन्तु शास्त्र के वचन अभ्रान्त हैं। इसलिए इन सिद्धान्त-वचनों पर दृढ़ विश्वास रखकर उनका पालन किया जाय तो अवश्य ही कल्याण होगा। कहा जा सकता है कि हमारे पीछे दुनियादारी की अनेक झंझटें लगी हैं और इस स्थिति में भगवान के इन वचनों का पालन किस प्रकार किया जाय ? ऐसा कहने वालों को सोचना चाहिए कि भगवान् क्या उन झंझटों को नहीं जानते थे ? इस पंचमकाल को और इसमें उत्पन्न होने वाले दुःखों को भगवान् भलीभांति जानते थे और इसी कारण उन्होंने दुःख से मुक्त होने के उपाय बतलाये हैं। फिर भी अगर कोई यह उपाय काम में नहीं लाता और सिद्धान्त-वचनों पर श्रद्धा नहीं करता तो वह दुःखों से किस प्रकार मुक्त हो सकता है ?

हम लोग कई बार सुनते हैं कि सत्य का पालन करते हुए अनेक महापुरुषो ने विविध प्रकार के कष्ट सहन किये हैं, परन्तु वह महापुरुष कभी ऐसा विचार तक नहीं करते कि सत्य के कारण यह कष्ट सहने पडते हैं तो हमें सत्य का त्याग कर देना चाहिए। महापुरुषों का यह आदर्श अपने समक्ष होने पर भी अगर हम सत्य का आचरण न करें तो यह हमारी कितनी बड़ी अपूर्णता कहलायगी? अतएव भगवान् की वाणी को अभ्रान्त समझकर उस पर श्रद्धा, प्रतीति तथा रुचि करो और विचार करो कि भगवान् का हमारे ऊपर कितना करुणाभाव है कि उन्होने हमारे कल्याण के लिए यह वचन कहे हैं। भगवान् अपना निज का कल्याण तो बोले विना भी कर सकते थे, फिर भी हमारे कल्याण के लिए ही उन्होंने यह सिद्धान्तवाणी कही है। अतएव भगवद्वाणी पर हमें विश्वास करना ही चाहिए।

कदाचित् कोई कहने लगे कि आपका कहना सही है, मगर संसार में चमत्कार के बिना नमस्कार नहीं देखा जाता। अतएव हमें कोई चमत्कार दिखाई देना चाहिए। इस कथन के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि शास्त्रीय चमत्कार बतलाया जाय तो उपदेश ही है और अगर व्यावहारिक चमत्कार बतलाया जाय तो वह भी तभी माना जायगा जब कि वह बुद्धि मे उतर सके। अगर बुद्धि में न उतरा तो वह भी अमान्य ही ठहरेगा। यह बुद्धिवाद का जमाना है। यह जमाना विचित्र है। जो लोग शास्त्र सुनने आते हैं उनमें से भी कुछ लोग ही सचमुच शास्त्र सुनने आते हैं और कुछ लोग यह सोचकर आते हैं कि वहाँ जाने से हमारे अवगुण दब जाएँगे और हमारी गणना धर्मात्माओं में होने लगेगी। यह बात इस खोटे जमाने से ही नहीं वरन् भगवान् महावीर के समय से ही चली आती है।

भगवान् के समवसरण में आने वाले देवों में भी कितनेक देव भगवान् के दर्शन करने आते थे और कितने ही देव दूसरे अभिप्राय से आया करते थे। दूसरे अभिप्राय से आने वाले देवों में कुछ देव तो इसलिए आते थे कि भगवान् के पास जाकर अपनी शंकाओं का समाधान कर लेंगे कुछ देव अपने मित्रों का साथ देने के लिए आते थे और कुछ देव भगवान् के पास जाना अपना जिताचार-आचार परम्परा समझ कर आते थे। इस प्रकार भगवान् के समय में भी ऐसी घटनाएँ हुआ करती थीं।

यह हुई परोक्ष की बात। प्रत्यक्ष में भी व्याख्यान में आने वाले लोग भिन्न-भिन्न विचार लेकर आते हैं। लोग किसी भी विचार से क्यों न आवें, अगर भगवान की वाणी का एक भी शब्द उनके हृदय को स्पर्श करेगा तो उनका कल्याण ही होगा। भगवान् की वाणी का चमत्कार ही ऐसा है। पर विचारणीय तो यह है कि जब आये ही हो तो फिर शुद्ध भाव ही क्यों नहीं रखते ? अगर शुद्ध भाव रक्खोगे तो तुम्हारा आना शुद्ध खाते में लिखा जायगा। कदाचित् शुद्ध भाव न रक्खे तो तुम्हारा आना अशुद्ध खाते में लिखा जायगा। तो फिर यहाँ आकर अशुद्ध खाते में अपना नाम क्यों लिखाना चाहते हो ? इसके अतिरिक्त भगवान की वाणी सुनकर यह हृदय में धारण न की गई तो भगवान् की वाणी की आशातना ही होगी। अतएव भगवान् की वाणी हृदय में धारण करो और विचार करो कि मनुष्य अपना मुख आप नहीं देख सकता इस कारण उसे आदर्श-दर्पण की सहायता लेनी पड़ती है भगवान की वाणी दर्पण के समान है। मनुष्य दर्पण की सहायता से अपने मुख का दाग देखकर उसे धो सकता है। उसी प्रकार भगवान् की वाणी के दर्पण में अपनी आत्मा के अवगुण देखो और उन्हें धो डालो। भगवान् की वाणी का यही

चमत्कार है कि वह आत्मा को उसका अवगुण रूप दाग स्पष्ट बतला देती है। अगर तुम अवगुण दूर करके गुणग्रहण की विवेकबुद्धि रक्खोगे तो भगवान् की वाणी का चमत्कार तुम्हें अवश्य दिखाई देगा। इसलिए भगवान् की वाणी पर दृढ विश्वास रखकर उसकी सहायता से अपने अवगुण धो लो तो तुम्हारा कल्याण होगा ।

शास्त्र में कहीं-कहीं इस प्रकार प्रतिपादन किया गया है जैसे भगवान् से प्रश्न किये गये हों और भगवान् ने उनका उत्तर दिया हो, और कहीं-कहीं ऐसा है कि भगवान् स्वयं ही फरमा रहे हों। परन्तु यह बात स्पष्ट है कि भगवान् ने जो बात अपने ज्ञान में देखी है वही बात कही है और यह बात उन्होंने कभी-कभी विना पूछे भी कही है। मगर जो बात उन्होंने अपने ज्ञान में नहीं देखी वह पूछने पर भी नहीं कही।

इस प्रकार जिन भगवान् की वाणी पर अखण्ड श्रद्धा रखना उचित है। श्रद्धा न रखने से शका नामक सम्यक्त्व का दोष होता है।

२—कांक्षा

चाह, अभिलाषा या कामना को कांक्षा कहते हैं। अभिलाषा अच्छी भी हो सकती है और बुरी भी हो सकती है, परन्तु यहाँ उस बुरी अभिलाषा का जिक्र है, जो सम्यक्त्व को मलीन बनाती है। शका की ही भाँति कांक्षा भी दो प्रकार की होती है–एक देशकांक्षा और सर्वदेशकांक्षा। 'बौद्ध दर्शन अच्छा है, उसे क्यों न स्वीकार कर लिया जाय' इस प्रकार की कांक्षा सर्व देशकांक्षा है। और किसी अन्य दर्शन की किसी अश में कांक्षा होना देशकांक्षा है ।

इस प्रकार 'की' कांक्षा करने वाले यह नहीं देखते कि हम दूसरे दर्शन की कांक्षा करते हैं, परन्तु हमारे दर्शन में क्या बुराई है? अगर कोई बुराई नहीं है तो फिर दूसरे दर्शन की चाह करना कैसे उचित कहा जा सकता है? कभी किसी और कभी किसी दर्शन की इच्छा करते रहने से जीवन व्यवस्थित नहीं हो सकता। जो मनुष्य कभी एक मार्ग पर चलना आरम्भ करता है और फिर उसे छोड़कर दूसरे मार्ग पर चलने लगता है और फिर उसका भी त्याग करके तीसरी राह पकड़ लेता है वह अपनी मंजिल तक कैसे पहुँच सकता है? हाँ, जिसने आरम्भ में गलत रास्ता अख्तियार कर लिया है, वह उसे छोड़कर सही रास्ते पर आजाय यह तो उचित है, पर सही रास्ते पर चलते-चलते, मन में तरंग उठी और रास्ता बदल लिया तो अपने लक्ष्य से दूर पड़ जाना होगा। इस प्रकार मन की क्षणिक तरंगों पर नाचना विवेकवान् का कर्त्तव्य नहीं है।

जिसने एक पुरुष को पति के रूप में स्वीकार कर लिया है वह उसे छोड़कर अगर दूसरे को पति बना ले तो आप उसके कार्य को योग्य समझेंगे? महाभारत के अनुसार द्रौपदी ने कर्ण को देखकर यह इच्छा की थी कि यदि कर्ण का जन्म द्रौपदी के पेट से हुआ होता तो मैं इन्हें भी अपना छठा पति बना लेती। इस कांक्षा के कारण वह अपने सतीत्व से गिर गई। तब श्रीकृष्ण ने उसे प्रायश्चित्त कराया। यह बात नहीं थी कि कर्ण में गुण नहीं थे, परन्तु एक स्त्री के लिए इस प्रकार की कांक्षा करना उसके सतीत्व के लिए दूषण है।

कहा जा सकता है कि चित्त की शुद्धि करना ही धर्म का सार है और बौद्धदर्शन आदि में भी चित्त की शुद्धि का माग

बतलाया है। ऐसी स्थिति में बौद्धदर्शन को मानें तो क्या और जैन-दर्शन को माने तो क्या ? शास्त्रकार इस कथन के उत्तर में कहते हैं-बौद्धदर्शन या किसी अन्य दर्शन में चित्तशुद्धि का मार्ग बतलाया है तो अच्छी बात है, परन्तु तू यह देख कि जैनदर्शन में चित्त की शुद्धि का मार्ग बतलाया गया है या नहीं ? इसके सिवाय, यह देख कि जैन दर्शन में चित्तशुद्धि का उत्कृष्ट मार्ग बतलाया गया है या निकृष्ट ? अगर जैनदर्शन में चित्त-शुद्धि का श्रेष्ठ मार्ग प्रतिपादित किया गया है तो क्या कारण है कि तू अन्य दर्शन की आकांक्षा करता है ? आज निष्कारण ही अगर दूसरे दर्शन की आकांक्षा करता है तो कल तीसरे दर्शन की आकांक्षा करने लगेगा और तेरा जीवन अस्तव्यस्त हो जायगा।

हमें किसी अन्य दर्शन से घृणा नहीं है, फिर भी हम यह पूछते हैं कि-जैनदर्शन में क्या अपूर्णता है, जिससे अन्य दर्शन की आकांक्षा की जाय ? तुझे अल्पबुद्धि के कारण अगर अपूर्णता दिखती है तो किसी ज्ञानी स समझ।

वस्तुत कांक्षा होने का कारण इहलोक और परलोक सम्बन्धी चाह है। तत्त्व के लोभ से धर्मपरिवर्त्तन करने वाले बहुत कम होते हैं। अधिकांश लोग धन, स्त्री आदि के लोभ से ही धर्म परिवर्त्तन करते हैं। मगर इस प्रकार की आकांक्षा करना अज्ञान का लक्षण है।

कहा जा सकता है कि जैनधर्म तो त्याग की रूखी बातें बतलाता है, लेकिन जब आत्मशुद्धि के लिए तप और त्याग अनिवार्य है तो क्या उनका विधान न किया जाय ? और ऐसा कोई मन्त्र बता दिया जाय कि जिसके जपने से सब कामनाएँ पूरी

हो जाया करें ? अगर जैनधर्म ऐसा विधान करने लगे तो वह भवभ्रमणा मिटाने वाला नहीं रहेगा, भववृद्धि करने वाला हो जायगा। ऐसा विधान करने वाला धर्म धर्म नहीं कहला सकता।

मध्य युग में जैनों में भी चमत्कार घर कर गया था। वह चमत्कार का युग ही था। परन्तु ऐसा करने में जैनत्व की खूबी नहीं रही, उलटे इस चक्कर में पड़ने से निषिद्ध वस्तु ग्रहण करनी पड़ी। वास्तव में जैनधर्म तो इस लोक और परलोक सम्बन्धी चाह का निषेध करता है।

चाह के कारण बड़ी-बड़ी ठगाइयाँ चलती हैं। सुना है, देवगढ़ के ठग कोटा-नरेश को भी ठग ले गये। उस ठग जाने का कारण था कांक्षा। कांक्षा करने वाले धर्म पर स्थिर नहीं रह सकते।

कह सकते हो कि हम संसारी हैं, गृहस्थ हैं। हमें सभी कुछ चाहिए। परन्तु विचार करो कि क्या कांक्षा करने से ही सब कुछ मिलेगा ? और कांक्षा न करने से नहीं मिलेगा ? अगर तुम समझते हो कि कांक्षा न करने से नहीं मिलेगा तो तुम भूलते हो। कांक्षा न करने से वस्तु करोड़ गुणी मिलेगी। संवर, सामायिक आदि धर्माचरण करके कांक्षा करने से परलोक तो नहीं बनेगा इहलोक भी बिगड़ जायगा।

धन-दौलत, पत्नी-पुत्र आदि की प्राप्ति के लिए परमात्मा से प्रार्थना करना भी कांक्षा है। इस प्रकार की कांक्षा मोक्ष के लिए किये गये कार्य को भी तुच्छ बना देती है और उसमें निकृष्टता ला देती है। इसके अतिरिक्त धर्माचरण के बदले में यदि सांसारिक सुखों की आकांक्षा की और कर्मोदय से सांसारिक सुख न मिला तो

धर्म के प्रति अरुचि हो जाती है। इस प्रकार इस कांक्षा दोष की बदौलत धर्म भी चला जाता है। भक्त तुकाराम कहते हैं—

भाग्य साठीं गुरु केला, नाहीं अम्हासीं फलला ॥ १ ॥
याचा मन्त्र पडता कानी, अमचा पाणी ॥ २ ॥
गुरु केला घर वासी, आमुच्या चुकल्या गाई म्हसी ॥ ३ ॥
स्वामी आपुली वुट-वुट दयावी, अमुची यानी ॥ ४ ॥
'तुका' म्हणे ऐसे नष्ट, त्यांसी दूठो होती कष्ट ॥ ५ ॥

एक किसान ने किसी को इस अभिलाषा से गुरु बनाया कि इन्हें गुरु बना लेने से मेरा भाग्य खुल जायगा। मुझे धन मिलेगा। मेरे कुए में पानी भर जायगा और खाइयाँ भी भर जाएँगी, जिससे खूब खेती होगी। उसने गुरु को घर लाकर गुरु मन्त्र सुनाने को कहा। गुरु ने गुरु-मन्त्र सुना दिया। संयोगवश उसी रात को खूब पानी बरस गया, जिससे उस किसान को बहुत हानि हुई। किसान सोचने लगा-आज ही गुरु बनाया और आज ही यह हानि हो गई। मेरी गाय-भैंसे भी चली गई। इस हानि के कारण गुरु ही हैं। तब वह गुरुजी के पास गया और बोला-अपना गुड-गुड का मन्त्र वापिस ले लो और मेरे यहाँ पहला ही प्रताप रहने दो। गुरु ने कहा-मैं कब तेरे पाँव पड़ने गया था कि मेरा मन्त्र सुन ही ले।

मतलब यह है कि कांक्षा करने वाले लोग, कांक्षा के कारण, धर्म से भी विमुख हो जाते हैं। इसीलिए शास्त्र मे कहा है कि इस लोक या परलोक सम्बन्धी कांक्षा मत करो। यही बात दूसरे ग्रन्थों में भी कही है। गीता में लिखा है—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं,
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ॥

वैतरणी में फंसे हुए धर्म का आचरण करके, स्वर्ग में जाकर देव बनने और भोग भोगने की कामना रखने वाला मनुष्य, चाहे स्वर्ग चला भी जाय परन्तु वहाँ कुछ ही दिन रह कर, अन्त में नीचे गिरेगा और जन्म-मरण के चक्कर में पड़ेगा।

आचारांगसूत्र में भी कहा है—

'कामकामी खलु अयं पुरिसे सूरइ, तिप्पइ, पीडइ, परितप्पइ।'

जो कामकामी है, जो धर्म करके बदले में सांसारिक फल चाहता है, वह सोचेगा, झूरेगा और बार-बार कष्ट पाएगा। अतएव धर्म करके किसी भी फल की कांक्षा नहीं करनी चाहिए।

अरिहन्त भगवान् ने कांक्षा का निषेध किया है। भगवान् की आज्ञा के अनुसार ही धर्म का पालन किया जाता है और भगवान ने धर्म करके कांक्षा करने से रोका है। ऐसी स्थिति में धर्म करके कांक्षा करने वाला व्यक्ति आराधक कैसे रह सकता है? कांक्षा करने वाले की श्रद्धा कितनी ही दृढ़ और पवित्र हो, परन्तु उसे अरिहन्तभाषित धर्म की श्रद्धा में अतिचार लग ही जाता है।

कदाचित् कहा जाय कि इच्छा तो होती ही है, परन्तु धर्म के बदले में सांसारिक भोगोपभोग की इच्छा नहीं रखनी चाहिए। इच्छा हो भी तो जन्म-मरण से छुटकारा पाने की ही इच्छा होनी चाहिए।

प्रश्न हो सकता है इच्छा चाहे मोक्ष की ही क्यों न की जाय, आखिर है तो वह इच्छा और तृष्णा ही? इसका उत्तर यह है कि एक इच्छा तो बन्धन में डालने वाली होती है और एक इच्छा बन्धन से निकलने की होती है। मोक्ष की इच्छा बन्धन से निकलने की है। इसलिए इस कांक्षा से सम्यक्त्व में दूषण नहीं लगता।

साधना की उच्चतम स्थिति में पहुँच जाने पर वह इच्छा भी नष्ट हो जाती है। कहा भी है—

यस्य मोक्षे ऽप्यनाकांक्षा, स मोक्षमधिगच्छति।

जो इच्छा से सर्वथा रहित हो जाता है, जिसके हृदय में मोक्ष की भी इच्छा नहीं रहती, वही मोक्ष प्राप्त करता है।

तो प्रारम्भिक दशा में भले मोक्ष की इच्छा रहे, मगर मोक्ष के सिवाय और कोई सासारिक इच्छा, जिससे सम्यक्त्व मलीन होता है, नहीं होनी चाहिए।

कहा जा सकता है—हम गृहस्थ हैं, अतएव हमें धन, स्त्री, पुत्र आदि की कामना रहती है और विशेषतः इन्हीं की प्राप्ति के लिए कष्ट भी उठाते हैं। फिर यदि हम धर्म के द्वारा ही इन्हें चाहें तो क्या बुराई है? इसके उत्तर में कहना है—तू सिद्धान्त की बात मानता है या अपने मन की बात मानता है? यदि सिद्धान्त की बात मानता है तो धर्म करके कांक्षा मत कर। कांक्षा करने से ही इष्ट पदार्थ मिले और कांक्षा न करने से न मिले, ऐसी बात नहीं है।

इष्ट पदार्थों की प्राप्ति पुण्य से होती है। पुण्य दो प्रकार का है—सकांक्ष और निष्कांक्ष। सकांक्ष पुण्य अच्छा नहीं होता। उसके निमित्त से धन या पुत्र मिल भी गया तो लड़का प्रायः खराब निकलता है और धन प्राय पाप में डालने वाला होता है।

कांक्षा की पूर्ति के लिए धर्म या पुण्य करने की बात कुगुरुओं की चलाई हुई है और उसका परिणाम यह हुआ कि लोग धर्म को भूल ही बैठे हैं। कई साधुओं ने सोचा कि यों तो श्रावक हमारे

जंगल में नहीं फँसते, अतएव उन्होंने भी पाखण्ड फैलाया कि ऐसा करो तो ऐसा होगा ! लेकिन इस प्रकार के पाखण्ड से धर्म की हानि ही हुई है। भगवान् ने तो कहा है कि चाहे राजकुल में से निकल कर और राज्य त्याग कर भी मुनि हो तब भी यदि तप करके वह किसी प्रकार की कांक्षा करता है तो उसका त्याग-तप वृथा है। जब भगवान् ने मुनि के लिए भी ऐसा कहा है तो कांक्षा करने से श्रावक को सम्यक्त्व में अतिचार क्यों नहीं लगेगा ?

किरातार्जुनीय काव्य को देखो तो मालूम होगा कि जैनधर्म कितना व्यापक धर्म है। जब अर्जुन तप कर रहे थे तब एक ओर तो उनके हाथ में धनुष और बाण था और दूसरी ओर जंगल में वे ऐसे घोर तप में मग्न थे कि तिलोत्तमा जैसी अप्सरा भी उन्हें विचलित न कर सकी। बल्कि जब तिलोत्तमा शरीर खोल कर अपना रूप-सौन्दर्य दिखलाने लगी, तब अर्जुन ने उससे कहा—अगर मैं तुम्हारे उदर से जनमा होता तो मैं भी ऐसा सुन्दर होता ! अर्जुन की बात सुनकर तिलोत्तमा चली गई। फिर इन्द्र ब्राह्मण का रूप धारण करके आया और अर्जुन से कहने लगा—

हे अर्जुन ! मुझे आश्चर्य होता है कि कहाँ तुम्हारा तप और कहाँ तुम्हारे हाथ में धनुष-बाण ! तप करते हो तो तपस्वी का वेष धारण करो और आयुध रखते हो तो दूसरे काम करो। तुम आयुध पास रख कर भी तप करते हो। इससे जान पड़ता है कि तुम मोक्ष के लिए नहीं किन्तु युद्ध में विजयी होने के लिए तप कर रहे हो। अगर मेरा अनुमान सत्य है तो तुम्हारा यह तप तुच्छ

है। तप मोक्ष के लिए होना चाहिए और तुम तप करके वैरी का विनाश चाहते हो।

> यः करोति वधोदर्काः निःश्रेयसकरी क्रियाः।
> ग्लानिदोषच्छिदः स्वच्छाः, स मूढः पङ्कयत्यपः॥

मोक्ष देने वाली क्रियाओं को जो हिंसा या वध के उद्देश्य से करता है, वह मूर्ख है। वह निर्मल जल को भी मानो मलीन करता है।

जिस पानी में मलीन वस्तु को भी स्वच्छ कर देने का गुण है, जो शीतलता देने वाला और तृषा बुझा देने वाला है, उसे मैला बना देने वाला बुद्धिमान् कहा जायगा या मूर्ख?

'मूर्ख!'

इन्द्र कहता है-हे अर्जुन! इसी प्रकार जिस तप से अनन्त-काल की तृष्णा नष्ट होकर मोक्ष प्राप्त होता है, उसे संसार-कामना के लिए क्यों करते हो? ऐसा तप करके सांसारिक कामना करना पानी को कीचड़ में मिलाने के समान है। अतएव संसार के लिए तप करके तुम तप को मलिन मत करो।

किरातार्जुनीय के इस कथन से भी स्पष्ट है कि कांक्षारहित तप ही करना चाहिए। कांक्षा न होने पर क्रिया का फल उत्कृष्ट ही मिलेगा। सांसारिक वैभव तो कीचड है। आत्मोन्नतिरूप धर्म-जल को इस कीचड में मिलाना ठीक नहीं। सोचना चाहिए कि अनन्त वार चक्रवर्ती का राज्य भी मिला और उससे भी सन्तोष न हुआ तो दूसरे सांसारिक पदार्थ मिलने पर कैसे सन्तोष हो सकता है?

जो प्यास क्षीरसागर के जल से भी नहीं मिटती, वह गटर के पानी से कैसे मिट सकती है ? फिर कामना करके धर्म को क्यों बिगाड़ा जाय ?

प्रश्न हो सकता है कि अर्जुन का तप संसार के लिए था तो चक्रवर्तियों का तप किसलिए था ? इसका उत्तर यह है कि यह तो भावना पर निर्भर है। चक्रवर्तियों का तप संसार के लिए भी हो सकता है और मोक्ष के लिए भी हो सकता है। कई चक्रवर्ती मोक्ष गये हैं और कई नरक गये हैं। इस अन्तर का कारण भावना है। इस पर भी कदाचित् चक्रवर्ती ने संसार की भावना से तप किया हो तो भी सम्यग्दृष्टि के लिए तो यह कार्य अतिचार रूप ही है। इसके सिवाय, उनका तप व्रत रूप नहीं था, तब धर्म के लिए रहा ही कहाँ ?

सबसे पहले आप इस बात पर विचार कीजिए कि आपको धर्म के द्वारा सांसारिक भावनाएँ बढ़ानी हैं या सांसारिक भावनाओं का त्याग करना है ? अगर सांसारिक भावनाएँ बढ़ानी हैं तो फिर उन्हें बढ़ाने के साधन तो और भी बहुतेरे हैं। धर्म को कलुषित करने की क्या आवश्यकता है ? अगर सांसारिक भावनाएँ घटानी हैं तो फिर सांसारिक पदार्थों की कामना क्यों करते हो ?

मेरे कहने की एक बात यह है कि आप आत्मशुद्धि और मुक्ति की पवित्र भावना से धर्म का आचरण कीजिए। इस प्रकार आचरण करने से जो सांसारिक सुख मिलने हैं वे तो मिल ही जाएँगे। वे कहीं भागने वाले नहीं हैं। फिर धर्माचरण के प्रकृष्ट फल से, वंचित होने की क्या आवश्यकता है ? किसान धान्य के लिए खेती करता है। क्या उसे भूसा नहीं मिलता ? मिलता। पर उस किसान को आप क्या कहेंगे जो भूसे के लिए ही खेती करता है ? जो लोग

रिक पदार्थों की आकांक्षा से प्रेरित होकर धर्मक्रिया करते हैं, वे भूसे के लिए खेती करने वाले किसान के समान हैं।

इस प्रकार समझकर कांक्षा का त्याग करने वाला श्रावक ही निरतिचार सम्यक्त्व का धारक हो सकता है ?

३—विचिकित्सा

विचिकित्सा एक प्रकार का मतिभ्रम है। युक्तिसिद्ध आगम के अर्थ पर तो विश्वास हो जाय, परन्तु उसके फल के संबंध में सन्देह बना रहे तो इसे सम्यक्त्व का विचिकित्सा नामक अतिचार समझना चाहिए। उदाहरण के लिए, शास्त्र से अहिंसा और सत्य का पालन करना तो सिद्ध है, लेकिन यह संदेह रहा कि इनका पालन करने पर भी फल मिलेगा या नहीं ? क्योंकि देखते हैं कि झूठ का आचरण करने वाला आनन्द उडाता है और सत्य का सेवन करने वाला कष्ट भोग रहा है। इस कारण झूठ की ओर रहें या सत्य की ओर ? इसी प्रकार अहिंसा-अहिंसा करके जैनियों ने राज्य डुबो दिया और हिंसा करने वाले मौज करते हैं। तब हिंसा को मानें या अहिंसा को ? इस प्रकार फल संबंधी सन्देह को विचिकित्सा कहते हैं।

प्रासंगिक रूप में मुझे कहना है कि पहले जैनों की अहिंसा पर दोषारोपण किया जाता था। लाला लाजपतराय के दादा ने इस (स्थानकवासी) सम्प्रदाय में साधु-दीक्षा ली थी, पर साम्प्रदायिक संकीर्णता देखकर लालाजी अलग हो गये और जैनधर्म की अहिंसा को दोष देने लगे। उन्होंने एक लेख में लिखा था कि अहिंसा-राक्षसी ने हमारे अनेक नवयुवकों के प्राण ले लिये हैं। जब गांधीजी

ने अहिंसात्मक आन्दोलन चलाया, तब भी लालाजी ने उसका विरोध किया। मगर गांधीजी के अहिंसात्मक आन्दोलन का क्रियात्मक रूप देखकर कौन उसका विरोध कर सकता था? गांधीजी ने लाजपतराय के प्रश्नों का जो उत्तर दिया उसका भी इन पर असर पड़ा। अन्त में लाजपतराय भी अहिंसा के भक्त हो गये।

मतलब यह है कि आगम पर विश्वास तो किया, परन्तु धर्म का फल संसार में देखने लगे और फलविषयक सन्देह करने लगे तो यह विचिकित्सा है। जैसे-एक अहिंसावादी का सिर कटते देखकर विचार करना कि अहिंसा पालने वाले का तो सिर कट जाता है। बात को दूसरा रूप देना और कायरता पर धार्मिकता का रंग चढ़ा देना भी विचिकित्सा के अन्तर्गत है। विचिकित्साग्रस्त मानस विचार करता है—यह रेत के कौर के समान नीरस धर्मकाम हम करते तो हैं, परन्तु कौन जाने इनका फल मिलेगा या नहीं? क्योंकि क्रिया सदा सफल नहीं होती। किसान बीज बोता है, किन्तु कभी फल मिलता है और कभी नहीं भी मिलता। धर्मकार्य करके इस प्रकार विचार करना विचिकित्सा है।

परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि पक्के किसान को अपने बोये बीज के विषय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रहता। बारह वर्ष तक बराबर दुष्काल पड़ते रहने पर भी किसान बीज बोया करता है। उसे यह विश्वास रहता है कि खेती से अनाज पैदा होता है। इसके सिवाय किसान किस आधार पर मान ले कि इस वर्ष भी दुष्काल ही पड़ेगा?

इस तरह जिन्हें अपने कार्य के फल पर विश्वास है, वे निस्सन्देह कार्य करते रहते हैं लेकिन जिन्हें विश्वास नहीं है, वे कार्य को ठीक

मान कर भी, फलविषयक सन्देह के कारण, कार्य करने में उत्साह-वान् नहीं होते। बहुत से-आदमी सोचते हैं कि हमने साधु की सेवा की, पर कोई फल नहीं निकला। तो अब साधु के यहाँ जाएँ या नहीं ? जान पडता है, इन साधुओं में कोई चमत्कार नहीं है। जाना तो वहाँ चाहिए जहाँ चमत्कार हो।

इस प्रकार बनियाई से धर्म करने वाले को सन्देह बना रहता है और किसान की तरह धर्म करने वाले को सन्देह नहीं होता।

दुष्काल पड़ने पर भी यदि कोई किसान आपसे पूछे कि, मैं बीज बोऊँ या नहीं ? तो आप उसे क्या राय देंगे ? यही कहेंगे कि दुष्काल खेती से नहीं निकला है, यह तो किसी अदृश्य शक्ति से पड़ा है। उस अदृश्य शक्ति से घबरा कर दृश्य शक्ति को छोड देना और बीज न बोना कैसे उचित है ? बहिनों से कभी २ रसोई बनाते-बनाते बिगड भी जाती है। कभी रोटी जल जाती है और कभी खिचड़ी में नमक ज्यादा हो जाता है। लेकिन आज रसोई बिगड गई तो क्या वह कल न बनाएगी ?

बनाएगी ही।"

क्योंकि यह विश्वास है कि जो खराबी हुई है, वह गलती से हुई है और भोजन बनाये बिना तैयार नहीं हो सकता। इसी प्रकार आपको भी विश्वास होना चाहिए कि धर्म करते हुए भी जो कष्ट आए हैं, वे कष्ट धर्म के कारण नहीं आये हैं, किन्तु किसी दूसरा गलती या पूर्वजन्म के पाप के कारण आये हैं।

लोगों का चित्त किस प्रकार मिथ्याभ्रम में पड़ जाता है, यह बात स्वामी रामतीर्थ ने एक उदाहरण देकर समझाई है। एक

विद्यार्थी कॉलेज की छुट्टियों में अपने घर गया। घर ग्राम में था। घर में पुराने विचार की एक बुढ़िया थी। वह लड़के से कहा करती थी कि अमुक कार्य बुरा है, आदि आदि। लड़का अपने साथ एक घड़ी लाया था। बुढ़िया ने कभी घड़ी देखी नहीं थी। अतः उसने लड़के से पूछा—यह क्या है? लड़के ने कहा—घड़ी है। बुढ़िया ने पूछा इसमें यह 'टक्-टक्' क्या होता है? लड़के ने उत्तर दिया—इसके पुर्जे। बुढ़िया ने कहा—तू झूठ बोलता है। इसके भीतर कोई बैठा है, वह 'टक्-टक्' करता है।

बुढ़िया को रात भर यह चिन्ता रही कि लड़का नये विचार का है, अपने साथ न जाने क्या बला ले आया है? संयोग की बात कि उस लड़के के छोटे भाई को बुखार आ गया। बुढ़िया ने विचारा कि लड़के के बुखार का कारण यह बला ही है। यदि घर में से बला न गई तो इस लड़के का बुखार भी नहीं जाएगा। सवेरे लड़के का बुखार बढ़ गया और बुढ़िया का घड़ी के प्रति संदेह बढ़ गया। उसने उस घड़ी को चुराया और एक पत्थर पर रख कर दूसरे पत्थर से फोड़ते हुए कहा—बला जा।

इत्तिफाक की बात! लड़के का बुखार भी चला गया। बुढ़िया का विश्वास पक्का हो गया। उसने कॉलेज से आये हुए लड़के से कहा—अब कभी इस प्रकार की बला अपने साथ मत लाना। नहीं तो मैं तुझे घर में भी न आने दूंगी।

क्या बुढ़िया का यह भ्रम ठीक था?

'नहीं!'

आप लोगो में भी ऐसे बहुत-से वहम घुसे हुए हैं। वहम के कारण जिस प्रकार बुढ़िया ने घडी नष्ट की, उसी प्रकार आप भी वहम घुस जाने पर सद्गुणों को नष्ट करते हैं और धर्म का त्याग कर देते हैं। लोग कार्य कारण पर विचार नहीं करते और किसी भी कार्य का कोई भी कारण समझ बैठते हैं। इससे परम्परा बिगड़ जाती है।

गजसुकुमार मुनि ने दीक्षा ली और उनके सिर पर जलते हुए अंगार रक्खे गये। इसमें किसका दोष था? क्या दीक्षा का दोष था?

'नहीं।'

यदि आप इसमें सयम का दोष नहीं समझते तो फिर अपने समय ऐसा ही क्यों नहीं विचारते? आप तो किसी बुराई के आने पर सद्गुणों को ही दोष देते हो और धर्म पर अविश्वास करने लगते हो।

वास्त्विक दृष्टि से देखने पर मालूम होगा कि मिथ्यात्वमोहनीय कर्म का उदय जहाँ होता है, वहीं शका, काक्षा और विचिकित्सा आदि दोष उत्पन्न होते हैं।

प्रश्न होता है--बुद्धिमान् लोग प्रत्येक कार्य के फल के विषय में विचार करते हैं, फिर फल के विषय में संदेह करना मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म का उदय कैसे कहा जा सकता है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि आप फल के विषय में विचार कर सकते हैं, पर सदेह क्यों करें? उसकी कामना करने से भी क्या लाभ है? आपको यही विचार करना चाहिए कि मैंने जो कार्य किया है, वह अरिहन्त के उपदेशानुसार किया है या उपदेश से

विरुद्ध ? यदि उपदेशानुसार ही क्रिया है तो फिर फल के विषय में सन्देह क्यों है ? जिन अरिहन्त के उपदेश के अनुसार कार्य किया है वे तो सर्वज्ञ हैं न ? जब उनकी सर्वज्ञता पर विश्वास हो चुका है, तब फिर उनके वचनानुसार किये हुए कार्य के फल में संदेह क्यों है ? जिनको हमने सम्पूर्ण ज्ञानी माना है उनकी कही हुई बात के विषय में सन्देह तो होना ही नहीं चाहिए। बल्कि सम्पूर्णभाव से निस्सन्देह रहना चाहिए और कोई बात समझ में न आवे, तब भी कहना चाहिए—

तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं।

लोग हथेली पर पेड़ उगाना चाहते हैं अर्थात् धर्मकार्य का फल तत्काल देखना चाहते हैं। लेकिन वास्तव में—

अनेकजन्मसंसिद्धिस्ततो याति परां गतिम्। ✓

साधना का फल प्राप्त करने में अनेक जन्म बीत जाते हैं अतएव फल-प्राप्ति में उतावल करना योग्य नहीं है।

विचिकित्सा को सम्यक्त्व का अतिचार कहा है। इसका अभिप्राय यह है कि विचिकित्सा करने से सम्यक्त्व नष्ट तो नहीं होता, किन्तु उसकी दशा उसी प्रकार की होती है, जिस प्रकार तालाब का पानी पवन से उछाला जाता है, किन्तु पाल के कारण तालाब के बाहर नहीं जा पाता। फिर भी ऐसा जल स्थिर नहीं कहला सकता। इसी प्रकार श्रावक सामाजिक विचार आदि के कारण श्रद्धा में बँधा हुआ है, श्रद्धा अभी त्यागी नहीं है, परन्तु चित्त में स्थिरता नहीं है। भगवान् कहते हैं कि श्रद्धा में विचिकित्सा होने से भी मनुष्य धर्म से गिर सकता है।

आजकल के बहुत-से लोग शका और कांक्षा मे ही पड़े है और इससे बचे हुये बहुत–से विचिकित्सा में पड जाते हैं। इसी कारण कई लोग धर्म को गाली भी देते हैं। मगर ऐसे लोग वही हैं जो धर्म को नहीं समझते। एक बुद्धिमान् ने अपने लेख में लिखा था कि परमात्मा के घर देर भले ही हो, पर अंधेर नहीं है। लेकिन ज्ञानियों का कथन है कि धर्म में अंधेर तो है ही नहीं, देर भी नहीं है। लोग इधर धर्म करते हैं और उधर फल चाहते हैं, इसी कारण धर्म के प्रति अश्रद्धा होती है। परन्तु धर्म का फल समय पर ही मिल सकता है। वह असमय में नही मिल सकता और न असमय मे चाहना ही चाहिए। असमय में कोई भी बात होने से दुर्व्यवस्था होगी। किसान मक्की बोकर उसी समय फल नहीं चाहता। मक्की को फल लगने में साठ–सत्तर दिन की जो मर्यादा है, उसके बाद ही वह फल चाहता है। मगर लोगों को धर्म का फल उसी समय चाहिए। आज धर्म किया और आज ही उसका फल मिल जाना चाहिए, उसकी स्वाभाविक कालमर्यादा उन्हें सह्य नहीं। लेकिन मर्यादाहीन कार्य किसी मतलब के नहीं होते। वे कार्य बाजीगर के तमाशे के समान हो जाएँगे। बाजीगर उसी समय आम का पेड़ लगा देगा और उसी समय उसमें फल भी लगा देगा, परन्तु उस पेड़ और उन फलों का अस्तित्व कितनी देर रह सकेगा? वह फल काम के होते तो बाजीगर भीख ही क्यों माँगता फिरता?

तत्काल फल की इच्छा रखने वाले लोग धर्म रूपी वृक्ष को उखाड़-उखाड़ कर देखते हैं और फिर धर्म के प्रति अश्रद्धा करने लगते हैं।

ज्ञातासूत्र में विचिकित्सा का भाव दिखाने के लिए मोर के अण्डों का दृष्टान्त दिया है। कहा गया है कि दो आदमी मोरनी के

अण्डे लाये। एक ने विश्वास रक्खा कि यह अण्डा मोरनी का है और मुर्गी इसमें से बच्चे निकाल देगी। ऐसा विश्वास रखने से उसके लाये अण्डे में से बच्चे निकल आये, लेकिन दूसरे आदमी को अण्डों के प्रति अविश्वास रहा। वह यही सन्देह करता रहा कि क्या मालूम, इन अण्डों में बच्चे हैं या नहीं ? इस प्रकार के अविश्वास के कारण वह अण्डों को बार-बार हिला-हिला कर देखता रहा, जिससे वे अण्डे व्यर्थ गये-उनमें से बच्चे नहीं निकले। यह दृष्टान्त देकर ज्ञातासूत्र में समझाया है कि धर्म में विचिकित्सा रखने से ऐसा ही होता है।

मनुष्य सांसारिक कामों में यदि अस्थिरता से ही काम ले तो वह ठीक नहीं हो सकते। इस प्रकार जब संसार-व्यवहार में भी स्थिरता की आवश्यकता है तो क्या धर्म में स्थिरता की आवश्यकता न होगी ? केले के पौधे के प्रति सन्देह करके उसके छिलके उतारने वाले को क्या मिलने वाला है ? उस पर विश्वास रख कर सींचने वाला मीठे फल पाता है। यही बात धर्म के विषय में भी समझो।

मतलब यह है कि धर्म का तत्क्षण फल चाह कर, और तत्क्षण फल न मिलने पर, धर्म के प्रति अविश्वास मत लाओ धैर्य पूर्वक विश्वास रक्खो। यही बात बतलाने के लिए गीता में भी कहा है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन।

अर्थात्—कार्य करो कार्य का फल न चाहो।

दो-चार वर्ष तक जीवित रह सकने वाला, अस्सी-नब्बे वर्ष का एक बूढ़ा आम के वृक्ष लगा कर सींच रहा था। कुछ लोग

उधर से निकले। वे उस बूढे को आम के पेड सींचते देखकर कहने लगे-यह बुड्ढा कितना मूर्ख मालूम होता है। इसे कितने दिन जीना है? यह कब फल खा सकेगा? फिर भी कितनी मिहनत कर रहा है?

उस बूढे ने कहा-मैं आपकी बात मानूँ या कर्त्तव्य को? मैने दूसरे के लगाये आम के फल खाये हैं तो मेरे लगाये आम के फल मैं ही खाऊँ, यह तो तुच्छ बुद्धि है।

अकसर लोग संसार-व्यवहार मे तो उस बूढे की सी बुद्धि रखते हैं, लेकिन धर्म में इस बुद्धि को भूल जाते हैं। बहुत से लोग बनियापन से ही धर्म करते हैं और सोचते हैं-हमने अमुक धर्म किया है, इसका यह फल मिले और यदि यह फल न मिले तो यह धर्म नहीं। इसी प्रकार धर्मकार्य के सम्बन्ध में भी सोचते हैं कि अमुक ऐसा करे तो मैं भी करूँ, नहीं तो नहीं करूँ। यह सब धर्म के प्रति अस्थिरता का फल है। यह धर्मप्रेम नहीं है। अगर आपके अन्त करण में धर्म के प्रति प्रेम है, आप धर्म को बड़ा समझते हैं, तो धर्म के विषय में शंका, कांक्षा और विचिकित्सा न रखकर धर्म का सेवन करो। तभी धर्म का वास्तविक फल प्राप्त होगा।

कुछ लोग विचिकित्सा का दूसरा अर्थ करते हैं-विद्वद्जुगुप्सा। अर्थात् ज्ञानियों की निन्दा करना, उनके प्रति घृणा का भाव रखना विचिकित्सा कहलाता है। यहाँ ज्ञानी से अभिप्राय मुनि का है। अतः विचिकित्सा का त्याग करना अर्थात् मुनियों की निन्दा का त्याग करना चाहिये।

जिन्होंने संसार के कारणों को द्रव्य और भाव दोनों से ही त्याग दिया है, ऐसे साधुओं की भी निन्दा करने से लोग नहीं

पूछते । कई कहने लगते हैं—अजी, ये साधु तो स्नान नहीं करते। उनका शरीर तो स्वेद और मैल से भरा रहता है और दुर्गंध देता है। ये कच्चा पानी नहीं छूते तो गर्म पानी से ही शरीर साफ क्यों नहीं कर लेते? गर्म पानी से भी शरीर स्वच्छ नहीं करने वाले साधु क्या, आलसी हैं।

दूसरे लोग ऐसी बातें करें तो करें परन्तु कई जैन कहलाने वाले लोग भी ऐसी बातें कहते हैं। वे देखते हैं—अहिंसा सत्य आदि महाव्रतों के पालन में तो हम इनसे जीतते नहीं इसलिए ऐसी बात बनाना चाहिए, जिससे इनके प्रति घृणा का भाव जागृत हो जाय। इसीलिए वे कहते हैं—'इन साधुओं में और बात तो ठीक है, परन्तु ये मैले रहते हैं!

ऐसा कहने वाले जैन लोगों से पूछना चाहिए कि आप यह बात आगम के आधार पर कहते हैं या अपनी इच्छा से? आगम में साधु के लिए क्या यह नहीं कहा गया है कि—

किं विभूसाए कारियं ।

अर्थात्—साधु को शरीर का संस्कार करने का क्या प्रयोजन है? स्नान न करना एक प्रकार का कष्ट भोगना ही है। यदि शास्त्र में साधु के लिए स्नान करने का विधान हो तो साधु क्यों व्यर्थ कष्ट भी सहन करे और शास्त्राज्ञा का उल्लंघन भी करे? ऐसा करने से साधु को क्या लाभ है? जब साधु शास्त्रोक्त अहिंसा आदि व्रतों का पालन करता है तो नहाने-धोने में ही उसका क्या बिगड़ता था? स्नान के संबंध में शास्त्र का कथन है—

संतिमे सुहुमा पाणा घसासु भिलगासु य ।
जे य भिक्खू सिणायंतो वियडेणुप्पिलावए ॥

जो साधु स्नान करता है, वह हिंसा से नहीं बच सकता। पृथ्वी की दरारों आदि में रहे हुए जीव अचित्त जल से भी मर जाते या कष्ट पाते हैं।

स्नान के सम्बन्ध में मैंने डाक्टरो के अभिप्राय पढ़े हैं। एक लेख में उनके अभिप्राय प्रकट किये गये थे। कई डाक्टरों का कहना है कि शरीर की चमड़ी में बाह्य आघात सहन करने का जो गुण है, वह स्नान करने से नष्ट हो जाता है। यानी चमड़ी में कमजोरी आ जाती है, चमड़ी पतली पड़ जाती है, जिससे और बीमारियाँ होने लगती हैं।

स्नान सोलह शृंगारों में गिना जाता है। जिसने शृंगार करना छोड़ दिया है, वह स्नान क्यो करे ?

यह जैनदृष्टि का विचार है। कोई वैष्णव भाई कह सकते हैं कि हमारे यहाँ तो स्नान के बिना मोक्ष ही नहीं है। परन्तु ऐसा कहने वाले सन्यासधर्म से अपरिचित हैं। वैष्णवों की कई कथाओं में कहा गया है कि अमुक तपस्वी ने ऐसी तपस्या की कि शरीर के ऊपर दीमक चढ गई। अगर वे तपस्वी स्नान करते होते तो शरीर पर दीमक कैसे लग जाती ?

इसके सिवा, जब स्नान से ही मोक्ष है तो फिर शरीर पर राख क्यों लगाई जाती है ? जब शरीर पर राख लगाई जाती है तो हमारा स्नान न करना ही क्या बुरा है ?

शौणिक पुराण के १८ वें अध्याय के श्लोक ४१-४२ में वैष्णव त्यागी के लिए जो नियम बतलाये गये हैं, उन्हें जैन त्यागी के ५२ अनाचारों से मिलाएँगे तो आपको वस्तुस्थिति का पता लग

जाएगा। वहाँ परापवाद, चुगली खोम, जुआ, जनपरिवाद स्त्री को देखना फुलड़ी लगाना दातुन करना या मंजन करना मिस्सी लगाना, गंदा भोजन करना नमकीन भोजन करना मैल उतारना शूद्र यानी नीच प्रकृति वाले से भाषण करना और गुरु की अवज्ञा करना आदि-आदि मना किया गया है।

यह तो त्यागी की बात हुई। गृहस्थ के लिए भी महाभारत में कहा है —

आत्मा नदी संयमतोयपूर्णा, सत्योदका शीलतटा दयोर्मिः।

तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र! न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा॥

हे युधिष्ठिर! अन्तरात्मा का मैल पानी से नहीं धुलता। संयम रूपी पानी से परिपूर्ण शील रूपी तट वाली और दया की लहरों से लहराने वाली आत्मा रूपी नदी में अर्थात् संयम में स्नान करने से ही अन्तरात्मा शुद्ध हो सकती है।

४—परपाखण्डप्रशंसा

सम्यक्त्व का चौथा अतिचार 'परपाखण्डप्रशंसा' है। 'पर' शब्द का अर्थ है-दूसरा। किन्तु 'पाखण्ड' शब्द का अर्थ क्या है यह देखना है। 'पाखण्ड' का अर्थ दंभ सर्वसाधारण में प्रसिद्ध है। यहाँ इसी अर्थ को लिया जाय तो इस अतिचार का अर्थ होगा—दूसरे के पाखण्ड अर्थात् दंभ की प्रशंसा करना।

यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या दूसरे का पाखण्ड ही बुरा है? अपना पाखण्ड या दंभ बुरा नहीं? यदि दंभ मात्र

बुरा है तो दूसरे के दंभ की प्रशंसा करने से ही क्यों दोष लगता है ? क्या अपने दंभ की प्रशंसा करने से दोष नहीं लगेगा ? अगर अपने पाखण्ड की प्रशंसा करना भी दोष है तो यहा 'पर' शब्द जोड़ने की क्या आवश्यकता थी ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि 'पाखण्ड' शब्द अनेकार्थक है। उसका अर्थ दंभ भी होता है और व्रत भी होता है। यहाँ उसका अर्थ व्रत है।

सर्वज्ञ के बताये हुए व्रत के सिवाय अन्य व्रत को पर पाखण्ड कहते हैं। कहा जा सकता है कि क्या सर्वज्ञ के बताये व्रत भी पाखण्ड हैं ? इसका उत्तर यह है कि जो पाप का नाश करे वह पाखण्ड है, और व्रत पाप का नाशक है, अत व्रत का नाम पाखण्ड है।

पापानि खण्डयतीति पाखण्डः।

निर्युक्ति में भी कहा है:—

पव्वइए अणगारे, पासंडे चरग-तावसे भिक्खू।
परिवाइए य समणे, निग्गंथे संजए मुक्के ॥

यहाँ मुनियों के जो पर्यायवाची शब्द बतलाये गये हैं, उनमें एक नाम पाखण्डी भी है। और भी कहा है—

पाषण्डं व्रतमित्याहुस्तद्यस्यास्त्यमल भुवि।
स पाषण्डी वदन्त्येके, कर्मपाशाद् विनिर्गत. ॥

यह श्लोक दशवैकालिकसूत्र की टीका का है। इसमें कहा गया है कि पाखण्ड व्रत को कहते हैं। व्रत मैले भी होते हैं और निर्मल भी होते हैं परन्तु जो निर्मल व्रत धारण करने वाले हैं, उन्हें पाखण्डी भी कहते हैं। मतलब यह है कि पाखण्ड अर्थात् व्रत सर्वज्ञप्रणीत भी हैं और असर्वज्ञप्रणीत भी हैं। जो असर्वज्ञप्रणीत हैं, वे परपाखण्ड हैं। जो असर्वज्ञप्रणीत पाखण्ड हैं, उन्हें कोई दूसरा भले मानता हो परन्तु सम्यग्दृष्टि उन्हें नहीं मानेगा। वह उनकी प्रशंसा नहीं करेगा।

परपाखण्ड के शास्त्र में ३६३ भेद बतलाये हैं। शास्त्र में उन परपाखण्डों की व्याख्या भी की है। वैसे तो परपाखण्डधारी भी अपने आपको मोक्ष का अधिकारी मानते हैं; परन्तु जो अपने मन से सर्वज्ञ बना है, हम उसे सर्वज्ञ नहीं मानते। और जो सर्वज्ञ नहीं है उसके बताये हुए व्रतों को हम पाखण्ड तो मानेंगे, परन्तु कहेंगे परपाखण्ड ही।

प्रश्न हो सकता है कि जब आप दूसरे के व्रत को परपाखण्ड मानते हैं तो फिर दूसरे शास्त्रों के प्रमाण क्यों देते हैं? इसका उत्तर यह है कि अदालत में जब मुकदमा होता है तो कैसा भी गवाह क्यों न हो अगर अपना पक्ष पुष्ट होता है तो उसकी गवाही दिलानी पड़ती है। उस समय उसके दूसरे दोषों का विचार नहीं किया जाता। कई बार तो वेश्या की भी गवाही दिलानी पड़ती है।

इसी प्रकार हम अपने पक्ष की सत्यता सिद्ध करने के लिए दूसरे के शास्त्रों की साक्षी देते हैं। हमें उनके कर्त्ता के चरित्र से ... । मतलब है? प्रमाण देने से दूसरे के शास्त्र को सही नहीं माना

है, केवल अपने पक्ष की पुष्टि की गई है। उदाहरण के लिए एक बात का यहाँ उल्लेख करता हूँ। यह बात शायद महाभारत की है।

एक बार द्रौपदी गगा या यमुना में स्नान करने गई। द्रौपदी स्नान करती थी, इतने ही में तेजस्वी, ओजस्वी और वीर माने जाने वाले कर्ण, कुण्डल-मुकुट पहने, हाथ में धनुष लिये उधर से निकले, द्रौपदी की दृष्टि कर्ण पर पड़ी। कर्ण को देख कर उनकी वीरता आदि का स्मरण करके द्रौपदी अपने मन में कहने लगी— क्या करूँ। संसार का नियम अजब है और उसका पालन करना ही होता है। यदि यह कर्ण कुन्ती के पेट से जन्मे होते, तो जैसे मैंने पाच पति वरे थे वैसे ही इन्हें भी वर लेती।

स्नान करके द्रौपदी अपने घर गई। द्रौपदी के इन मनोगत भावों को कृष्ण ने योगबल से जान लिया। कृष्ण ने विचार किया— किसी दूसरी स्त्री की बात तो अलग है, परन्तु द्रौपदी ऐसी सती इस प्रकार की भावना करे, यह सूर्य, चन्द्र के पृथ्वी पर गिरने जैसी आश्चर्य की बात है। कृष्ण विना बुलाये ही हस्तिनापुर आये। पाण्डव लोग कृष्ण का स्वागत करने लगे, परन्तु कृष्ण ने कहा— मैं स्वागत कराने नहीं आया हूँ, किन्तु किसी दूसरे ही कार्य्य से आया हूँ। चलो अपन सब वन को चलें, वहां वनभोजन करेंगे। द्रौपदी तुम भी साथ चलो। कृष्ण की बात मान कर द्रौपदी सहित सब पाण्डव कृष्ण के साथ वन को चले। चलते चलते एक सुन्दर वन आया। कृष्ण ने कहा यह वन है तो सुन्दर, परन्तु तुम्हारा नहीं है इसलिये इसके फलों पर मन मत ललचाना। इस प्रकार सबको सावधान करके कृष्ण आगे चले। आगे एक पके हुए जामुन का पेड़ मिला। भीम ने पके हुए जामुन देखकर इधर-उधर देखा और यह समझ कर कि कोई नहीं देखता है, वृक्ष में से एक जामुन का

यह श्लोक दशवैकालिकसूत्र की टीका का है। इसमें कहा गया है कि पाखण्ड व्रत को कहते हैं। व्रत मैले भी होते हैं और निर्मल भी होते हैं परन्तु जो निर्मल व्रत धारण करने वाले हैं, उन्हें पाखण्डी भी कहते हैं। मतलब यह है कि पाखण्ड अर्थात् व्रत सर्वज्ञप्रणीत भी हैं और असर्वज्ञप्रणीत भी हैं। जो असर्वज्ञप्रणीत हैं, वे परपाखण्ड हैं। जो असर्वज्ञप्रणीत पाखण्ड हैं, उन्हें कोई दूसरा भले मानता हो परन्तु सम्यग्दृष्टि उन्हें नहीं मानेगा। वह उनकी भरोसा नहीं करेगा।

परपाखण्ड के शास्त्र में ३६३ भेद बतलाये हैं। शास्त्र में उन परपाखण्डों की व्याख्या भी की है। वैसे तो परपाखण्डधारी भी अपने आपको मोक्ष का अधिकारी मानते हैं; परन्तु जो अपने मन से सर्वज्ञ बना है, हम उसे सर्वज्ञ नहीं मानेंगे। और जो सर्वज्ञ नहीं है, उसके बताये हुए व्रतों को हम पाखण्ड तो मानेंगे, परन्तु कहेंगे परपाखण्ड ही।

प्रश्न हो सकता है कि जब आप दूसरे के व्रत को परपाखण्ड मानते हैं तो फिर दूसरे शास्त्रों के प्रमाण क्यों देते हैं? इसका उत्तर यह है कि अदालत में जब मुकदमा होता है तो कैसा भी गवाह क्यों न हो अगर अपना पक्ष पुष्ट होता है तो उसकी गवाही दिलानी पड़ती है। उस समय उसके दूसरे दोषों का विचार नहीं किया जाता। कई बार तो वेश्या की भी गवाही दिलानी पड़ती है।

इसी प्रकार हम अपने पक्ष की सत्यता सिद्ध करने के लिए दूसरे के शास्त्रों की साक्षी देते हैं। हमें उनके कर्त्ता के चरित्र से ... मतलब है? प्रमाण देने से दूसरे के शास्त्र को सही नहीं माना

है, केवल अपने पक्ष की पुष्टि की गई है। उदाहरण के लिए एक बात का यहाँ उल्लेख करता हूँ। यह बात शायद महाभारत की है।

एक बार द्रौपदी गंगा या यमुना में स्नान करने गई। द्रौपदी स्नान करती थी, इतने ही में तेजस्वी, ओजस्वी और वीर माने जाने वाले कर्ण, कुण्डल-मुकुट पहने, हाथ में धनुष लिये उधर से निकले, द्रौपदी की दृष्टि कर्ण पर पड़ी। कर्ण को देख कर उनकी वीरता आदि का स्मरण करके द्रौपदी अपने मन में कहने लगी— क्या करूँ। संसार का नियम अजब है और उसका पालन करना ही होता है। यदि यह कर्ण कुन्ती के पेट से जन्मे होते, तो जैसे मैंने पांच पति वरे थे वैसे ही इन्हें भी वर लेती।

स्नान करके द्रौपदी अपने घर गई। द्रौपदी के इन मनोगत भावों को कृष्ण ने योगबल से जान लिया। कृष्ण ने विचार किया- किसी दूसरी स्त्री की बात तो अलग है, परन्तु द्रौपदी ऐसी सती इस प्रकार की भावना करे, यह सूर्य, चन्द्र के पृथ्वी पर गिरने जैसी आश्चर्य की बात है। कृष्ण बिना बुलाये ही हस्तिनापुर आये। पाण्डव लोग कृष्ण का स्वागत करने लगे, परन्तु कृष्ण ने कहा— मैं स्वागत कराने नहीं आया हूँ, किन्तु किसी दूसरे ही कार्य्य से आया हूँ। चलो अपन सब वन को चलें, वहां वनभोजन करेंगे। द्रौपदी तुम भी साथ चलो। कृष्ण की बात मान कर द्रौपदी सहित सब पाण्डव कृष्ण के साथ वन को चले। चलते चलते एक सुन्दर वन आया। कृष्ण ने कहा यह वन है तो सुन्दर, परन्तु तुम्हारा नहीं है इसलिये इसके फलों पर मन मत ललचाना। इस प्रकार सबको सावधान करके कृष्ण आगे चले। आगे एक पके हुए जामुन का पेड़ मिला। भीम ने पके हुए जामुन देखकर इधर-उधर देखा और यह समझ कर कि कोई नहीं देखता है, वृक्ष में से एक जामुन का

फल तोड़ लिया। भीम को अर्जुन का फल तोड़ते कृष्ण ने देख लिया। उन्होंने भीम को डांट कर कहा कि मैंने अभी थोड़ी ही देर हुई, तुम्हें शिक्षा दी है, फिर भी तुमने फल तोड़ लिया। भीम ने शर्मिन्दा होकर उत्तर दिया कि गल्ती हुई। कृष्ण ने युधिष्ठिर से कहा कि भीम के पाप का प्रायश्चित्त तुम पाँचों भाई करो और द्रौपदी! तुम भी प्रायश्चित्त करो। तुम्हारे पति के मन में एक तुच्छ फल के लिये चोरी की भावना क्यों आई?

युधिष्ठिर ने कृष्ण से पूछा कि हम इसका क्या प्रायश्चित्त करें? कृष्ण ने उत्तर दिया कि इस टूटे हुए फल को पुनः डाली पर लगाओ। युधिष्ठिर न पूछा-कैसे लगायें? कृष्ण न उत्तर दिया कि अपने अपने पापों की आलोचना करके कहो कि इन पापों के सिवा और पाप न किया हो तो-हे फल! उस शक्ति से तू ऊपर उठकर डाली पर लग जा! युधिष्ठिर ने कृष्ण की बात सुनकर कहा—यदि मैंने सत्य ही कहा हो और सत्य का ही आचरण किया हो, तो हे फल! तू ऊपर चढ़। युधिष्ठिर के यह कहने पर फल ऊपर उठ कर डाली की ओर चलने लगा। कृष्ण ने कहा कि युधिष्ठिर की परीक्षा हो गई इसलिये हे फल, तू ठहर। कृष्ण ने फिर भीम को बुलाया। भीम ने कहा—मैं तो पापी ही हूँ। कृष्ण ने कहा—अच्छा तुम ठहर जाओ! अर्जुन, तुम आओ। अर्जुन ने आकर अपने पाप की आलोचना करके कहा-इनके सिवा पाप न किया हो, तो फल, ऊपर चढ़ नहीं तो नीचे गिर। अर्जुन के कहने पर भी फल ऊपर चढ़ने लगा, परन्तु कृष्ण ने फल को रोक लिया। इसी प्रकार नकुल और सहदेव ने भी अपने पापों की आलोचना करके फल को चढ़ने के लिए कहा। उनके कहने पर भी फल चढ़ने लगा परन्तु कृष्ण ने रोक लिया। फिर कृष्ण ने भीम से कहा-अब तुम फल चढ़ाओ। भीम ने कहा

मैंने अभी इसी फल को तोड़ने का पाप किया है। कृष्ण ने उत्तर दिया–यह पाप तो प्रत्यक्ष है, इसके सिवा और पापों की आलोचना करो। भीम ने कहा–मैंने इस पाप के सिवा और पाप न किया हो तो फल, तू ऊपर चढ, नहीं तो नीचे गिर जा। भीम के कहने पर भी फल ऊपर चढने लगा, परन्तु कृष्ण ने रोक लिया।

पाण्डवों की परीक्षा हो जाने पर, कृष्ण ने द्रौपदी से कहा-कि द्रौपदी, अब तुम अपने पापों की आलोचना करके फल को ऊपर चढाओ। द्रौपदी ने कहा कि मैं तो प्रत्यक्ष पापिनी हूँ, मेरे पांच पति हैं। कृष्ण ने कहा-पाच पति तो प्रत्यक्ष ही हैं, इन पतियों के सिवा यदि मन, वचन से भी पाप न किया हो, तो फल को चढ़ाओ। द्रौपदी विचार में पड़ गई कि मैंने मन से तो कर्ण को अपना पति बनाने का पाप किया है, परन्तु यह बात कैसे कहूँ ? इस प्रकार की कमजोरी से द्रौपदी ने अपना वह मानसिक पाप छिपा कर कहा कि यदि मैंने पांच पति के सिवा मन से भी और पति न किया हो तो हे फल ! तू ऊपर चढ जा, नहीं तो नीचे गिर जा। द्रौपदी के यह कहने पर फल ऊपर चढ़ने के बदले और नीचे गिर गया। द्रौपदी बहुत लज्जित हुई। उसे चीरहरण के समय भी जितना दु ख न हुआ होगा, उतना दु ख उस समय हुआ। कृष्ण ने द्रौपदी से कहा-द्रौपदी यह फल तुम्हारे चारित्र की कैसी साक्षी दे रहा है ! तुम अब भी सत्य कहो। द्रौपदी ने कहा–मैंने दो पाप किये हैं। एक तो स्नान करते समय मैंने कर्ण को पति की तरह चाहने का पाप किया और दूसरा पाप इस समय पहले पाप को छिपाने का किया। इन दो पाप के सिवा और पाप नहीं किया। इस बात की साक्षी, यदि आप कहें तो मैं अग्नि या पानी में गिर कर भी दे सकती हूँ। द्रौपदी की बात सुनकर कृष्ण ने कहा कि तुम मेरी

भौजाई हो और सुभद्रा के नाते बहन भी हो, घबराओ मत। तुमने पाप की आलोचना करली, इससे तुम्हारा पाप धुल गया। द्रौपदी घबरा कर रोने लगी। कृष्ण ने कहा-अब तुममें पाप नहीं रहा है इसलिये घबराने की जरूरत नहीं है। यदि तुम्हें मेरी इस बात पर विश्वास न हो तो तुम परीक्षा के लिये फल को ऊपर चढ़ने की आज्ञा देकर देख लो। द्रौपदी ने रोते रोते फल को ऊपर चढ़ने की आज्ञा दी। द्रौपदी की इस बार की आज्ञा से फल ऊपर चढ़कर डाली से लग गया। कृष्ण ने द्रौपदी को धन्य कह कर कहा कि बस, वनभोजन हो गया चलो चलें।

मतलब यह कि द्रौपदी ने कर्ण की जरा-सी प्रशंसा की थी। यदि उसने कर्ण की प्रशंसा धर्म की दृष्टि से की होती तो दूसरी बात थी, परन्तु उसने कर्ण को पति बनाने की इच्छा से प्रशंसा की थी। यह उसका कार्य पर-पति-प्रशंसा हुआ और वह पाप माना गया इसी प्रकार किसी में सत्य हो और उसकी प्रशंसा सत्य की अपेक्षा से की जावे तब तो बात दूसरी है, परन्तु यह व्रत वीतराग का कहा है तो क्या और दूसरे का कहा है तो क्या अपने को दूसरे के बताये हुए व्रत भी लेना, वे भी अच्छे हैं, इस रूप में पर-पाखण्ड-प्रशंसा करना अतिचार है।

५—परपाखण्डसंस्तव

परपाखण्डप्रशंसा नामक चौथे अतिचार की व्याख्या करते हुए 'परपाखण्ड' शब्द का अर्थ स्पष्ट किया जा चुका है। चौथे अतिचार में प्रशंसा को दोष बतलाया गया था और इसमें संस्तव को वर्जित किया गया है। 'संस्तव शब्द का अर्थ है—परिचय' सहवास

से जो विशेष परिचय होता है-साथ खाना, साथ पीना आदि, वह संस्तव कहलाता है। सम्यग्दृष्टि को परपाखण्डियों के साथ ऐसा परिचय नहीं रखना चाहिए।

परपाखण्डियों के सहवास में रहने से, भोले लोग उनकी क्रियाओं को देखकर, सर्वज्ञ प्रणीत मार्ग से विचलित हो जाते हैं। देखादेखी वे वैसी ही क्रियाएँ करने लगते हैं और धीरे धीरे सम्यक्त्व से गिर जाते है। इसी दृष्टि से परपाखण्डियों के साथ परिचय करने का निषेध किया गया है।

कहा जा सकता है कि अगर परपाखण्डियों के साथ परिचय को भी आप वर्जित कर रहे हैं, तब तो हमें अलग ही अपना संसार बसाना पड़ेगा ! इस ससार में रह कर तो बचना कठिन है।

मगर मेरे कहने का आशय यह नहीं है कि सम्यग्दृष्टि किसी के साथ परिचय ही न करे। यहाँ उन लोगों के साथ परिचय करने का निषेध किया गया है, जो कपोलकल्पित सिद्धान्त को मानते हैं और समझाने पर भी अपने हठ को नहीं छोड़ते। बल्कि दूसरे का खंडन और अपना मंडन करने के लिए ही उद्यत रहते हैं।

एक पतिव्रता महिला ऐसी पतिव्रता के साथ ही परिचय करेगी जो उसके पतिव्रत धर्म के पालन में सहायक हो सके। वह उसी की संगति करेगी। पतिव्रत धर्म का पालन करने वाली किसी वेश्या के साथ अपनी घनिष्ठता स्थापित नहीं करेगी, क्योंकि वेश्या उसके धर्म की विघातिका हो सकती है, सहायिका नहीं हो सकती।

इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि भी गुणी जनों की ही संगति करता है

भौजाई हो और सुभद्रा के नाते बहन भी हो, घबराओ मत। तुमने पाप की आलोचना करली, इससे तुम्हारा पाप धुल गया। द्रौपदी घबरा कर रोने लगी। कृष्ण ने कहा-अब तुममें पाप नहीं रहा है इसलिये घबराने की जरूरत नहीं है। यदि तुम्हें मेरी इस बात पर विश्वास न हो तो तुम परीक्षा के लिये फल को ऊपर चढ़ने की आज्ञा देकर देख लो। द्रौपदी ने रोते रोते फल को ऊपर चढ़ने की आज्ञा दी। द्रौपदी की इस बार की आज्ञा से फल ऊपर चढ़कर डाली से लग गया। कृष्ण ने द्रौपदी को धन्य कह कर कहा कि बस, वनभोजन हो गया चलो चलें।

मतलब यह कि द्रौपदी ने कर्ण की जरा-सी प्रशंसा की थी। यदि उसने कर्ण की प्रशंसा धर्म की दृष्टि से की होती तो दूसरी बात थी परन्तु उसने कर्ण को पति बनाने की इच्छा से प्रशंसा की थी। यह उसका कार्य पर-पति-प्रशंसा हुआ और यह पाप माना गया इसी प्रकार किसी में सत्य हो और उसकी प्रशंसा सत्य की अपेक्षा से की जावे, तब तो बात दूसरी है, परन्तु यह मत वीतराग का कहा है तो क्या और दूसरे का कहा है तो क्या, अपने को दूसरे के बताये हुए मत भी लेना, वे भी अच्छे हैं, इस रूप में पर पाखण्ड-प्रशंसा करना अतिचार है।

५—परपाखण्डसस्तव

परपाखण्डप्रशंसा नामक चौथे अतिचार की व्याख्या करते हुए 'परपाखण्ड' शब्द का अर्थ स्पष्ट किया जा चुका है। चौथे अतिचार में प्रशंसा को दोष बतलाया गया था और इसमें संस्तव को वर्जित किया गया है। 'संस्तव शब्द का अर्थ है—परिचय' सहवास

श्रावक के भेद

मूलत श्रावक दो प्रकार के हैं-व्रती और अव्रती। दूसरे प्रकार से श्रावक त्याग की मर्यादा के भेद से आठ प्रकार के हैं। वे इस प्रकार हैं :—

(१) दो करण तीन योग से त्यागी।
(२) दो करण दो योग से त्यागी
(३) दो करण एक योग मे त्यागी
(४) एक करण तीन योग से त्यागी
(५) एक करण दो योग से त्यागी
(६) एक करण एक योग से त्यागी
(७) उत्तर गुणधारी श्रावक, जिसमें भंग नहीं है।
(८) अव्रती श्रावक, जो व्रत धारण नहीं करता किन्तु समकिती होता है।

श्रावक के यह आठ भेद भी मूल भेद हैं। शास्त्रकारों ने इन आठ के भी बत्तीस भेद बतलाये हैं।

और अपने समकित के विघातक परपाषंडियों की संगति को त्यागता है।

गुलिस्तां में मैंने एक कहानी पढ़ी थी। एक बार बादशाह अपने स्नानगृह में गया। वहाँ पड़ी हुई मिट्टी में से एक प्रकार की सुगंध आई। बादशाह ने अपने नौकरों से पूछा—इस मिट्टी में ऐसी खुशबू कहाँ से आई?

नौकर बोले—हुजूर! यह मिट्टी बाग में की है। इसके ऊपर फूल थे। उन फूलों की खुशबू इसमें आगई है।

यह सुनकर बादशाह कहने लगा—वाह रे फूल! तेरी भी बलिहारी है! तूने अपनी खुशबू इस मिट्टी में डाली पर इस मिट्टी की गंध अपने अन्दर नहीं पड़ने दी।

यही बात सम्यग्दृष्टि के विषय में समझना चाहिए। जो सम्यग्दृष्टि अपने धर्म की सुगंध दूसरों के ऊपर डाल दे उसको किसी से भी परिचय करने में हर्ज नहीं है; परन्तु जिन पुरुषों पर दूसरे की छाप पड़ जाती है और जिसके कारण सम्यक्त्व में डाँवाडोल परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है उन्हें परिचय नहीं करना चाहिए।

अणुव्रतों और महाव्रतों का सम्बन्ध

जैसे जल के अभाव में कमल नहीं होता, उसी प्रकार श्रावक धर्म के अभाव में साधु धर्म भी नहीं रह सकता। श्रावक धर्म रूपी जल की विद्यमानता में ही साधुधर्म रूपी कमल विद्यमान् रह सकता है।

आज कई श्रावक अणुव्रतों को जानते ही नहीं है और कई जानते-बूझते भी उनकी ओर से उदासीन हैं। इसी से साधु धर्म मे भी गड़बड़ है। उदाहरणार्थ, श्रावकों में आवश्यक विवेक न रहने से साधुओं को भी शुद्ध आहार-पानी मिलने में कठिनाई हो रही है। जब श्रावक ही मशीन का पिसा हुआ आटा और चर्बी मिला घी खाने लगें तो साधुओं को शुद्ध आहार कहाँ से मिलेगा? श्रावक अगर रजोगुणी और तमोगुणी भोजन करने लगें तो साधुओं को सतोगुणी भोजन किस प्रकार प्राप्त होगा?

जिसके यहाँ खाने-पीने की व्यवस्था नहीं है, उसका मन भी

अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य और परिग्रहपरिमाण, यह पांच अणुव्रत हैं। कोई श्रावक इन पांचों अणुव्रतों का पालन करता है और कोई कम ज्यादा का। पांचों व्रत लेने वाले भी सब समान रूप से नहीं लेते, किन्तु ऊपर बतलाये हुए छः भंगों में से भिन्न-भिन्न भंगों से लेते हैं। कोई पांचों व्रत पहले भंग के अनुसार कोई दूसरे भंग के अनुसार कोई तीसरे भंग के अनुसार और कोई चौथे पांचवें या छठे भंग के अनुसार। इस प्रकार पूर्वोक्त छह भंगों के आधार पर पांच अणुव्रतधारी के छह भेद होते हैं। इसी तरह चार व्रत लेने वाले के तीन व्रत लेने वाले के, दो व्रत लेने वाले के और एक व्रत लेने वाले के भी छह-छह विकल्प होते हैं। इन सबका योग किया जाय तो ३० भेद होंगे। इकतीसवां भेद उत्तरगुणधारी का और बत्तीसवां भेद अव्रती श्रावक का। इस प्रकार गणना करने से श्रावक के बत्तीस भेद होते हैं।

यहां यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि श्रावक में समकित होना अनिवार्य है। जिसमें सम्यक्त्व होगा, वही श्रावक माना जा सकता है। सम्यक्त्व के अभाव में श्रावकत्व नहीं रह सकता। जैसे मनुष्यों में कोई सम्राट् होता है, कोई राजा होता है, कोई मन्त्री होता है, फिर भी उन सब में मनुष्यत्व होना अनिवार्य है, उसी प्रकार कोई श्रावक भले मूल-व्रतधारी हो या उत्तरगुणधारी, भले पांचों मूल गुणों का पालन करे या एक दो तीन, चार का, किन्तु उन सबमें सम्यक्त्व का होना अनिवार्य है।

की खींची लकीर छोटी हो गई। तब उस लड़के ने कहा–लीजिए, आपकी लकीर छोटी हो गई है।

बादशाह ने लडके की पीठ ठोकर कहा-शाबास, बाप का संस्कार बेटे में आता ही है।

मतलब यह है कि जैसे उन दो लकीरों में छोटापन और बड़ापन सापेक्ष था। अर्थात् बडी लकीर होने से दूसरी छोटी कहलाई और छोटी होने से दूसरी बडी कहलाई, उसी प्रकार अणुव्रत और महाव्रत भी परस्पर सापेक्ष हैं। अणुव्रतों की अपेक्षा महाव्रत, महाव्रत कहलाते हैं और महाव्रतों के कारण अणुव्रत, अणुव्रत कहलाते हैं। अणुव्रत तभी होंगे तब महाव्रत होंगे और महाव्रत भी तभी महाव्रत कहलायेंगे जब अणुव्रत होंगे।
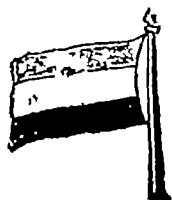
शुद्ध रहना कठिन होता है। मगर खेद है कि लोग स्वाद के आगे विवेक को भूल जाते हैं।

प्रायः लोग सीधी चीज खाने में पाप से बचना मानते हैं, पर एकान्त रूप से ऐसा समझना भूल है। कई बार सीधी चीज से अधिक पाप होता है। कोटीसाहकी में ब्राह्मणों ने बाजार से मैदा लाकर हलुवा बनाया। उन्होंने ज्यों ही मैदा सेक कर उसमें पानी डाला, वैसे ही बहुत-सी लटें पानी के ऊपर तिर आई। ब्यावर के सतीदासजी गोलेछा सीधी चीज खाने के बहुत पक्षपाती थे। एक बार वे बाजार से पिसी मिर्च लाये। घर पर उस मिर्च को तार की छलनी से छाना तो उसमें से बहुत-सी लाल रंग की लटें (इल्लियां) निकलीं। इस प्रकार कई लोग सीधा खाने से पाप से बच जाने का विचार करके और अधिक पाप में पड़ जाते हैं।

तात्पर्य यह है कि श्रावकधर्म और साधुधर्म का घनिष्ठ सम्बन्ध है। श्रावकों में विवेक होगा तो साधु भी अपने धर्म का भलीभांति पालन कर सकेंगे।

अणुव्रत और महाव्रत का सम्बन्ध कैसा है, यह बात एक उदाहरण देकर समझाता हूँ। किसी जगह कुछ लड़के खेल खेल रहे थे। उनमें एक लड़का वजीर का भी था। बादशाह ने अपनी लकड़ी से एक लकीर खींच दी और सब लड़कों से कहा इस लकीर को बिना मिटाये छोटी कर दो तो जानें।

लड़के सोच-विचार में पड़ गये। बिना मिटाये लकीर छोटी हो तो कैसे हो? परन्तु वजीर के लड़के ने बादशाह के हाथ से लकड़ी ली और उस लकीर के पास ही एक बड़ी लकीर खींच दी। बादशाह

का अभिप्राय यह है कि गृहस्थ इन्हीं सब में फँसा-फँसा अपने जीवन को समाप्त न कर दे। ऐसा न हो कि वह आत्मकल्याण कर ही न सके। गृहस्थ संसार के बंधन में है और इस बन्धन में रहते हुए वह अपना कल्याण किस प्रकार कर सकता है, यह बात शास्त्रकारों ने बहुत सरल रीति से समझाई है। यद्यपि गृहस्थ एक देश रूप से ही संयम का पालन कर सकता है, फिर भी उससे भी आत्मा का कल्याण तो होता ही है।

गृहस्थ श्रावक प्रायः दो करण तीन योग से अणुव्रतों का पालन करता है। यों तो पहले श्रावकों के जो बत्तीस भेद बतलाये हैं, उनमें और भी विकल्प हैं, परन्तु दो करण तीन योग से पापों का त्याग करने वाला श्रावक उच्च श्रावक कहलाता है। यद्यपि प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक तीन करण और तीन योग से भी अणुव्रतों का पालन करते हैं, मगर वे विरल होते हैं और उनकी त्यागविधि सभी गृहस्थ श्रावकों को लागू नहीं हो सकती।

श्रावक के दो करण तीन योग में शिष्टाचार रह जाता है, अर्थात् जो लोग हिंसा आदि करते हैं, उनके साथ संबंध रखने का वह त्याग नहीं करता।

महाशतक श्रावक ने दो करण तीन योग से हिंसा का त्याग किया था। उसके व्रत स्वीकार करने से पहले ही तेरह स्त्रियाँ थीं। इन तेरह स्त्रियों में से रेवती नामक स्त्री अत्यन्त क्रूर थी। एक बार रेवती ने सोचा—मेरी सौतें मेरापति सुख बँटा लेती हैं। ये पति-सुख में विघ्न रूप हैं, अतएव किसी प्रकार इन्हें अपने रास्ते से हटा देना चाहिए। जब तक इनकी मृत्यु नहीं हो जाती, तब तक मैं पूरी तरह पति-सुख नहीं भोग सकती।

७

श्रावक की त्यागविधि

जब तक व्यावहारिक जीवन सुधरा हुआ न हो, तब तक ईश्वरीय तत्त्व की उपलब्धि कोरी बात ही बात है। उदाहरण के लिए, कागज पर लिखे हुए दस सेर कलाकंद, पाँच सेर जलेबी, बीस सेर पूड़ी और पाँच सेर भजियों से कितने आदमियों का पेट भर सकता है? कागज पर लिखी हुई इन वस्तुओं को चाटने से क्या किसी एक का भी पेट भर सकता है?
'नहीं'!

कहोगे कि यह तो सूचना मात्र है। इसके अनुसार चीजों को लाने और खाने से ही भूख मिटेगी। ठीक है, इसी प्रकार यहाँ भी शास्त्र में ईश्वरीय तत्त्व की सूचना मात्र है। इस सूचना के अनुसार ईश्वरीय तत्त्व को प्राप्त करने के लिए शास्त्रोक्त आचार की आवश्यकता है। इसी उद्देश्य से श्रावकधर्म रूप बारह व्रत बतलाये हैं।

बारह व्रत गृहस्थधर्म का आधार है। गृहस्थ उसे कहते हैं, जिसके साथ घर, स्त्री, धन आदि लगे हैं और गृहस्थधर्म के उपदेश

माना जाता था। रेवती पूर्णरूपेण पति सुख चाहती थी, पर व्यभिचारिणी नहीं थी। अतएव महाशतक ने सोचा होगा कि मैंने दो करण तीन योग से हिंसा का त्याग किया है। अतः इससे संबंध त्याग कर इसे घर से निकाल देने की अपेक्षा मुझे ही संसार त्याग देना योग्य है। पर मुझमें अभी संसार त्याग देने की शक्ति नहीं है। जब मैं संसार नहीं त्याग सकता तो रेवती को त्यागना भी ठीक नहीं है। यह अभी तो हिंसिका है, घर से निकाल देने पर व्यभिचारिणी भी हो जायगी और तब दोनों कुलों को लजाएगी। इसमें मुझको ही चाहने का जो गुण है, उसी गुण को महत्त्व देकर घर में रखना ही उचित है। बाहर निकाल कर इसका और अपना फजीता करने से कुछ लाभ न होगा।

मेरे खयाल से, इसी प्रकार का विचार करके महाशतक ने रेवती को घर से न निकाला होगा।

महाशतक संसार से घबरा गया। वह दीक्षा तो न ले सका, किन्तु प्रतिमाधारी श्रावक बन गया। रेवती ने पुनः सोचा— महाशतक संसार-व्यवहार से अलग हो गया है, अत पतिसुख तो मुझे फिर भी नहीं मिलता। किसी प्रकार पति को उसके व्रत-नियम से विचलित करूँ और फिर गृहस्थी में लाकर संसार-सुख भोगूँ।

अगर रेवती पर पुरुष को चाहने वाली होती तो अपने पति को डिगाने क्यों जाती? बल्कि वह तो यही सोचती कि—अच्छा है, कंटक दूर हुआ। परन्तु रेवती अपने पति को डिगाने गई, इससे स्पष्ट है कि वह महाशतक पर ही अनुरक्त थी।

रेवती विकराल रूप धारण करके वहाँ गई, जहाँ महाशतक

महाशतक पति है, लेकिन उत्तम श्रावक है और रेवती उसकी पत्नी है जो अपनी सौतों के प्राण लेने को तैयार है। अन्ततः उसने अपने विचार को कार्य रूप में परिणत कर दिया। अपनी छह सौतों को विषप्रयोग से मार डाला और छह को शस्त्रप्रयोग से। वह उनके जेवर, धन और गोकुल आदि की मालकिन बन बैठी।

रेवती जैसी स्त्री मिल जाने पर, श्रावकधर्मधारक पुरुष क्या कर सकता है इस पर दृष्टिपात कीजिए। आज के लोग होते तो उस स्त्री को या तो मार ही डालते या घर से बाहर निकाल देते या जाति से बाहर कर देते। मगर उस समय की सामाजिक परिस्थिति के अनुसार महाशतक ने न उसे मारा और न घर से बाहर ही निकाला। महाशतक को अपनी स्त्रियों की मृत्यु का कारण ज्ञात न हुआ हो, यह बात असंभव-सी मालूम होती है। यह कैसे संभव है कि जिसकी बारह स्त्रियाँ विष और शस्त्र से मारी जाएँ उसे कारण का पता न लगे।

महाशतक ने दो करण तीन योग से हिंसा का त्याग किया था, अनुमोदना से त्याग नहीं किया था। वह जानता था कि इस संसार से निकल कर सर्वविरत साधु हो जाना बहुत अच्छा है, किन्तु जब तक संसार से निकल न जाऊँ तब तक श्रावकधर्म का पालन करना ही अच्छा है। गाड़ी को फेंक देना दूसरी बात है और उसे खींच कर पार लगा देना दूसरी बात है।

आज के लोग हिंसा को तो बुरा समझते हैं परन्तु व्यभिचार को उतना बुरा नहीं मानते। हत्या करने वाले की तो लोग निन्दा करते हैं, परन्तु खुल्लमखुल्ला व्यभिचार करने वाले की वैसी निन्दा नहीं करते। लेकिन उस समय में व्यभिचार को हिंसा से बुरा

भगवान् ने रेवती और महाशतक का पूरा किस्सा गौतम स्वामी को सुना कर कहा-गौतम! तुम जाओ और महाशतक को समझा कर कहो कि श्रावक को ऐसा करना नहीं कल्पता, अत अपने इस कृत्य के लिए आलोचना करो, निन्दा करो, घृणा करो। तब तुम्हारा आत्मा शुद्ध होगा।

जो गौतम स्वामी, बुलाने पर भी. नरेन्द्र के घर भी नहीं जाते थे, वे भगवान् की बात सुनकर, महाशतक श्रावक को पाप से छुड़ाने के लिए उसके पास गये। महाशतक ने गौतम स्वामी को वन्दना-नमस्कार करके कहा—भगवन्! आज आप बिना बुलाये ही पधार गये, यह बड़ी कृपा की।

गौतम स्वामी बोले—तू ने अपराध किया है, इस कारण मैं आया हूँ। तू ने रेवती को मरणभय उत्पन्न किया है। ऐसा करना प्रतिमाधारी श्रावक की मर्यादा से विरुद्ध है।

गौतम स्वामी की बात मान कर महाशतक ने आलोचना-निन्दा करके आत्मशुद्धि की।

मतलब यह है कि ससार के ऐसे कारणों से ही गृहस्थ श्रावक दो करण तीन योग से व्रत स्वीकार करता है। संसार में रहते अनुमोदन का पाप लग ही जाता है। इस अनुमोदनाजनित पाप का भागी होने से वह तीन करण और तीन योग से व्रतों को स्वीकार नहीं करता।

दो करण तीन योगसे भी व्रत स्वीकार करने के विषय में यह शका होती है कि अणुव्रतों को दो करण तीन योग से भी गृहस्थ किस प्रकार निभा सकता है? परन्तु विचार करने से विदित होता

ज्ञान-ध्यान में लीन था। महाशतक को उस समय अवधिज्ञान प्राप्त हो चुका था। रेवती ने महाशतक से कहा-तुम्हें सभी प्रकार की भोग-सामग्री प्राप्त है, फिर भी तुम खानपान और भोगविलास छोड़कर वृथा जिंदगी नष्ट कर रहे हो।

यद्यपि रेवती का वार्तालाप विवेकहीन था फिर भी महाशतक मौन रहा। रेवती ने तीन बार यही कहा, फिर भी वह क्षमा का सागर ही बना रहा। फिर भी रेवती न मानी। तब वह सोचने लगा—यह कुछ और सोचती है, मैं कुछ और सोचता हूँ। महाशतक ने उपयोग लगाया तो उसे मालूम हुआ कि रेवती मर कर रत्न प्रभा नरक में, चौरासी हजार वर्ष के लिए जायगी। तब उसने रेवती से कहा-तू मर कर चौरासी हजार वर्ष तक नरकवास करेगी।'

महाशतक के मुख से यह बात सुनकर रेवती समझी कि मेरे पति क्रुद्ध हो गये हैं। वह काँपती हुई वहाँ से हट गई।

भगवान् महावीर ने इस घटना को ज्ञान से जानकर कहा-गौतम! संसार में अंधेरा हुआ!

गौतम ने पूछा-भगवन्! ऐसा क्यों कहते हैं?

भगवान् ने कहा-महाशतक श्रावक ने संथारा-संलेखना लेकर किसी भी जीव को किंचित् भी कष्ट न, ऐसे की प्रतिज्ञा की थी, अठारहों पाप त्याग कर प्राणी मात्र को मित्र मान लिया था फिर भी उसने रेवती को नरकवास से डरा दिया। उसने अवधिज्ञान का जो उपयोग किया है, वह श्रावक को नहीं कल्पता।

परतन्त्रता से करने पर उसी काम से दुःख होता है। स्वतंत्रता से सेवन करने वाले को सेवा करने से रोको तो भी वह नहीं रुकेगा और परतन्त्रतापूर्वक सेवा करने के लिए सेवक को मारो तो भी वह सेवा नहीं करेगा और यदि करेगा भी तो दुखी होकर। उदाहरणार्थ- एक बाई के बच्चे ने पाखाना कर दिया। अगर किसी दूसरी बाई से उसे साफ करने को कहा जाय तो उसे दुःख होगा। मगर उस बच्चे की माता बिना कहे ही सफाई कर देगी।

तात्पर्य यह है कि व्रतों को अंगीकार करना अथवा न करना मनुष्य की इच्छा पर निर्भर है। कोई जबर्दस्ती करके किसी को व्रत नहीं देता। ऐसी स्थिति में व्रत अगर बन्धन है तो भी वह स्वेच्छा से स्वीकृत बंधन है। अपने जीवन के श्रेयस् के लिए, आत्मा के उत्थान के लिए और अपने भविष्य को मंगलमय बनाने के लिए मनुष्य स्वेच्छा से कुछ बंधन स्वीकार करता ही है। ऐसा किये बिना न समाज की व्यवस्था स्थिर रह सकती है और न जीवन का विकास ही हो सकता है।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि जब हिंसा बुरी है तो श्रावक हिंसा की अनुमोदना का भी त्याग क्यों नहीं करता? वह हिंसा करने वाले से परिचय रखना क्यों नहीं त्यागता?

इसका उत्तर यह है कि श्रावक ने अभी अपने में की हिंसा त्यागी है, अभी संसार नहीं त्यागा है, वह पुत्र-पौत्र आदि के साथ जुड़ा है, उसके ममत्वभाव का छेदन नहीं हुआ है, अतएव वह हिंसा करने वाले से परिचय रखना नहीं त्याग सकता। क्योंकि संभव है, उसके आत्मीय जनों में से ही कोई हिंसा करे और वह उसको छोड़ न सके। इस सम्बन्ध में महाशतक श्रावक का उदाहरण दिया ही जा चुका है।

है कि दो करण तीन योग से व्रत अंगीकार करके भी श्रावक सुख-पूर्वक अपना जीवन यापन कर सकता है। समझने-समझाने की अपूर्णता के कारण ही यह कहा जाता है कि जैनधर्म किसी विधवा या त्यागी से भले निभ सके, गृहस्थों से नहीं निभ सकता। वह तो चारों ओर से, नियमों से जीवन को बाँध लेता है। लेकिन ऐसा समझना भ्रम मात्र है। शास्त्र कहते हैं कि किसी वस्तु पर से आसक्ति हटाने के लिए त्याग किया जाता है और उस त्यागी हुई वस्तु पर फिर आसक्ति न हो इस उद्देश्य से, किवाड़ बंद करने के समान, व्रत लिये जाते हैं।

आप कोई कीमती रत्न कमाकर लावें और उसे घर में रक्खें। घर में चोर आदि का भय हो तो क्या घर के किवाड़ नहीं लगावेंगे? लगाते हैं।

इसी प्रकार आत्मधर्म को पालने के लिए, जीवन में प्रमाद और गफलत रूपी चोर न घुसें इस अभिप्राय से व्रत लेकर सीमा बाँध ली जाती है या व्रत रूपी किवाड़ लगा लिये जाते हैं।

कहा जा सकता है कि व्रतों में बँध जाना, कैद हो जाना क्या उचित है? इसके उत्तर में कहना चाहिए कि शास्त्रकारों ने गृहस्थ धर्म और साधुधर्म ऐसे दो धर्म बतलाये हैं। जिसकी भावना आत्मजागृति और भवभ्रमण से छूटने की हो वह तो संसार को सर्वथा त्याग देना चाहिए आत्म कल्याण ईश्वरोपासना और परमार्थ के लिए जो संसार को सर्वथा त्याग देता है, वह साधु या सन्यासी कहलाता है। अगर आप इस साधुधर्म को स्वीकार नहीं कर सकते तो महात्मा लोग आपको जबर्दस्ती साधु बनाते भी नहीं हैं। क्योंकि स्वतंत्रता से किये गये जिस काम से सुख होता है,

यहां एक आशंका हो सकती है। वह यह कि श्रावकके त्याग करने के ४६ भग हैं। उनमें एक भग तीन करण, तीन योग से भी त्याग करने का है। ऐसी दशा में आपने दो करण तीन योग से त्याग करने वाले को उच्च श्रावक क्यों माना? क्या ऐसा मानना सूत्रविरुद्ध नहीं है?

इसका समाधान यह है कि तीन करण तीन योग से वही श्रावक व्रत स्वीकार कर सकता है, जो संसार त्याग कर प्रतिमाधारी बने। जो संसार में बँधा हुआ है, वह तीन करण तीन योग से व्रत को नहीं निभा सकता। हाँ, वह किसी खास प्रकार का त्याग तीन करण तीन योग से कर सकता है। उदाहरण के लिए, स्वयंभूरमण समुद्र के मच्छ मारने का तीन करण तीन योग से त्याग करे तो उसे निभा सकता है। क्योंकि वहाँ तक कोई मनुष्य पहुँच ही नहीं सकता।

इस प्रकार गृहस्थ श्रावक किसी भी जाति में रहकर स्थूल हिंसा का दो करण तीन योग से त्याग कर सकता है और श्रावकपन पाल सकता है।

गृहस्थाश्रम में रहने वाला जाति को छोड़ नहीं सकता और न जाति के लोगों के लिए वह इस बात का ठेका ही ले सकता है कि जाति के लोग न स्थूल हिंसा करेंगे और न कराएँगे। और जो हिंसा करते-कराते हैं, उनके साथ संबध रखने से अनुमोदन का पाप लगता ही है। इस बात को लक्ष्य में रखकर गृहस्थ को दो करण तीन योग से त्याग करना बतलाया है। इस प्रकार का त्याग करने से गृहस्थ के ससार-व्यवहार में बाधा नहीं आ सकती।

धर्म का कथन सभी प्रकार के लोगों के लिए है। इस धर्म को बड़े-बड़े राजा-महाराजा भी धारण कर सकते हैं और बारह आने की पूँजी से व्यापार करने वाला पूनिया जैसा गरीब श्रावक भी धारण कर सकता है। इस धर्म के आचरण के नियम सभी श्रेणियों के लोगों को ध्यान में रख कर बनाये गये हैं। आत्मिक धर्म के लिए सभी को समान स्वतंत्रता है। यही कारण है कि धर्माचरण की विधि में व्यापक विचार से काम लिया गया है।

गृहस्थ श्रावक के पुत्र-पौत्र आदि उसकी नेश्राय में रहते हैं इसलिए उनके द्वारा की हुई हिंसा से संसगदोष ही नहीं लगता, किन्तु कभी-कभी उसके लिए प्रेरणा भी करनी पड़ती है। उदा-हरणार्थ—दो करण तीन योग से व्रत स्वीकार करने वाले ने किसी से कहा-'उठो भोजन कर लो।' इस प्रकार कह कर उसने भोजन करने की प्रेरणा की किन्तु खाने वाला यदि राज्याधिकारी हो और अभक्ष्य पदार्थ खावे तो क्या होगा? अगर उसके साथ सर्वथा सम्बंध त्याग दिया जाय तो क्लेश की वृद्धि होने की संभावना है। यदि वह कम पापी है तो संबंध तोड़ देने पर उसका अधिक पापी होना भी संभव है। संबंध रख कर उसे सन्मार्ग पर लाया जा सकता है।

मतलब यह है कि गृहस्थ होने के कारण श्रावकों का इस प्रकार का संबंध बना रहता है। किसी अच्छे काम के लिए मनुष्यों से गति-अवरोध न हो इसीलिए तीसरा करण खुला रक्खा गया है। इससे पापी को भी काम में लगाने में कोई अड़चन नहीं हो सकती।

१०

श्रावक और विवेक

शास्त्र, नीति और ससार-व्यवहार आदि सब में विवेक ही को बड़ा माना है। विवेक के विना कोई काम अच्छा नहीं होता। ऐसी दशा में धर्म में विवेक न रखने पर धर्म की बात कैसे ठीक हो सकती है? अविवेक के कारण धर्म की बात भी अधर्म का रूप ले लेती है, और विवेक से अधर्म की बात या अधर्म का समझा जाने वाला काम भी धर्म रूप में परिणत हो सकता है। सुबुद्धि प्रधान ने विवेक से गन्दे पानी को भी अच्छा बना लिया और राजा को प्रतिबोध देकर धर्मात्मा बना दिया। इसी तरह अविवेक से अच्छी वस्तु भी बुरी बना दी जाती है जैसे प्रत्येक सासारिक काम में विवेक की आवश्यकता है, ऐसे ही धर्म में भी विवेक ही प्रधान है।

अल्पपाप और महापाप के विषय में कई लोग मुझसे कहते हैं तथा पत्रों में भी इसकी चर्चा चलती है। इससे कई गृहस्थों ने मुझ से कहा कि आपकी मान्यता क्या है? इसलिए आज मैं अपनी मान्यता प्रकट करता हूँ।

यहाँ तक अनुमोदन करण को खुला रखने के कारणों पर विचार किया गया है। अब तीन योगों के विषय में भी थोड़ा समझ लेना चाहिए।

शास्त्रकार कहते हैं कि प्रत्येक करण के साथ मन, वचन और काय रूप योग का संबंध है। अर्थात्—

(१) हिंसा करूँगा नहीं, मन, वचन काय से।
(२) हिंसा कराऊँगा नहीं मन, वचन, काय से।
(३) हिंसा का अनुमोदन करूँगा नहीं मन, वचन, काय से।

जिसने अनुमोदन करना नहीं त्यागा है, उसके लिए अनुमोदन संबंधी मन, वचन और काय भी खुले रहते हैं।

उदाहरणार्थ—किसी ने स्वयं अपने लिए सौदा किया, किसी ने अपने लिए मुनीम से सौदा कराया और किसी ने सौदा करने वाले को सम्मति दी। यहाँ आप स्वयं किये हुए और मुनीम से कराये हुए सौदे के हानि-लाभ को तो भोगेंगे, किन्तु जिसे सलाह दी है उसके हानि-लाभ को नहीं भोगेंगे। उसे सलाह देने के कारण आपको अनुमति का दोष अवश्य लगा है, पर आपके दो करण तीन योग से स्वीकार किये व्रत में उससे कोई बाधा नहीं आई।

यहाँ इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि श्रावक विवेकवान् होता है और समस्त पापों से पूरी तरह बचने की भावना भी रखता है। अतएव जहाँ तक सम्भव होगा वह पापों से बचने का ही प्रयत्न करेगा। वह वृथा उस परिस्थिति में शक्यत्याग पाप का आचरण नहीं करेगा। आशय यह है कि धर्म के विशालतर प्राँगण में सभी के लिए स्थान है और जो जितना धर्म का आचरण करेगा और पाप से बचेगा वह उतना ही अपना कल्याण करेगा।

संशय से हानि होने की बात मैं ही नहीं कहता हूँ किन्तु सभी कहते हैं। श्रद्धा को सबने महत्व दिया है और कहा है कि "श्रद्धा-मयोऽयं पुरुषः" अर्थात् पुरुष श्रद्धामय है, जैसी श्रद्धा होती है वैसा ही वह बन जाता है। इस तरह श्रद्धा को सबने महत्व दिया है। शंका से श्रद्धा में दोष आता है और जब श्रद्धा में ही दोष आजावेगा तब बचेगा ही क्या ? इसलिये शका को मिटाने में सकोच करने की जरूरत नहीं है, शंका तो मिटाना ही चाहिये।

अब जो अल्पारम्भ महारम्भ का प्रश्न है वह उन्हीं के लिए हो सकता है, जो सम्यग्दृष्टि और व्रती हैं। मिथ्यात्वी के लिये तो हो ही नहीं सकता। क्यों कि जहाँ बडा कर्ज लदा हुआ है, वहाँ छोटे लेन देन की गिनती ही क्या ? जैसे १-२-३-४-५ में से बडी सख्या दस हजार की है। जिस पर दस हजार रूप मिथ्यात्व का कर्ज लदा हुआ है वहाँ पाँच या पैंतालीस के लेन देन की बात ही क्या की जा सकती है ?

जहाँ मिथ्यात्व का ही पाप शिर पर घूम रहा है वहाँ दूसरी बात करने की जरूरत ही नहीं रह जाती। परन्तु जो सम्यग्दृष्टि हैं उनको तो इस बात का विचार रखना ही चाहिए कि अल्पपाप और महापाप कैसे और कहाँ होता है ? मैं निश्चय से तो नहीं कह सकता कि यह काम अल्पपाप का है और यह महापाप का है परन्तु मैं अल्प और महापाप के साथ विवेक को जोड़ता हूँ और यह कहता हूँ कि जहाँ विवेक है वहाँ तो अल्पपाप है और जहाँ विवेक नहीं है वहाँ महापाप है। मैंने एकान्त पक्ष से कभी ऐसा नहीं कहा है, किन्तु यही कहा है कि अल्पपाप और महापाप विवेक अविवेक पर अवलम्बित है।

कई लोग प्रश्न करते हैं कि हलवाई के यहाँ से सीधी चीजें लाकर खाने में कम पाप है या घर में बनाकर खाने में कम पाप है? इसी तरह कपड़े और मकान के लिए भी प्रश्न करते हैं और होते होते यहाँ तक प्रश्न करने लगते हैं कि हाथ से चमड़ा चीर कर जूता बनाकर पहनना ठीक है या सीधा खरीद कर पहनना ठीक है? जूता का प्रश्न तो शायद इसलिये किया जाता होगा कि जिससे इस तरह की बात सुनकर लोगों के विचार मेरे विरुद्ध हो जावें।

कई लोग तो मेरे विवेक (वपमक) कथन को यह रूप देते हैं कि महाराज तो हाथ से रोटी बना कर खाने का कहते हैं। ऐसा असत रूप बना कर सावद्य उपदेश देने वाला बताते हैं। लोग पाप से बचना चाहते हैं और अपने समाज के आग सावद्य उपदेश देने वाले को साधु नहीं मानते। अतः मेरे विषय में यह कहा जाता है कि महाराज तो सावद्य उपदेश देते हैं। इस तरह के कथन का उद्देश्य तो यही हो सकता है कि लोगों का चित्त मेरी ओर से उतर जावे। लेकिन पूज्यों का न मालूम क्या पुण्य है कि उन लोगों के इस तरह आक्षेप करने पर भी लोगों का चित्त मेरी ओर से नहीं हटता। फिर भी मैं आप से यह कहता हूँ कि किसी विषय की शंका अपने चित्त में रहने देना ठीक नहीं है। शास्त्र में शंका कांक्षा विचिकित्सा आदि समकित के पाँच अतिचार कहे हैं। अतिचार तो और व्रतों के भी हैं। किन्तु व्रतों के अतिचार से समकित के अतिचार बड़े हैं इसी से यहाँ 'पयाला' शब्द शास्त्रकार ने जोड़ा है।

किसी बात की शंका होने पर भी संकोच के कारण, या किसी अन्य कारण से उस शंका को न मिटाने से शंका बनी ही रह जाती है। और हृदय में शंका रहने पर गीता में भी कहा है कि— "संशयात्मा विनश्यति" इस तरह शंका रह जाने से हानि होती है।

वास्तव में मेरा ही कसूर था या उनका भी ? वह अधिक पाप मेरे को ही हुआ या उनको भी ? मैं बच्चा था इससे मुझमें विवेक नहीं था और न उन्होंने कहा था कि कितनी लाना। इस तरह न उन्होंने विवेक दिया न बच्चा होने के कारण मुझ में विवेक था। इस तरह अधिक पाप का कारण अविवेक रहा। यदि विवेक होता तो वह अधिक पाप क्यों होता ?

इसलिये पत्ता तोडने का कार्य करने के बजाय कराने में अधिक पाप हुवा, क्योंकि अपने हाथ से लाते तो जितनी आवश्यकता थी उतनी ही लाते, अधिक नहीं।

विवेक होने के कारण अल्प पाप होने की जगह महापाप होने के और भी बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं। सेठ वरदभाणजी कहते थे कि मैं जगल गया। वहाँ नौकर से पानी भर लाने के लिये कहा। वह वनस्पति लीलोतरी फूलण आदि कुचलता हुवा दौड़ गया और लोटा मांज कर उसी में धोकर जैसा तैसा छाना-वेछाना पानी भर लाया। अब यह अधिक पाप किसको हुआ ? इसका कारण क्या है ? क्या यह पाप करने वाले को ही हुवा, कराने वाले को नहीं ? यदि सेठ स्वय पानी भरने जाते और विवेक से काम लेते तो कितना पाप टाल सकते थे ? लेकिन इन्होंने नौकर को भेजा और उसने विवेक नहीं रखा। वह सेठ का ही भेजा हुआ गया था। इसलिये क्या सेठ को उसका पाप नहीं लगा ?

मतलब यह है कि इस तरह, करने की अपेक्षा दूसरे से कराने में ज्यादा पाप हो गया या नहीं ? फिर भी किसी के मनमें कोई सन्देह की बात हो तो वह मुझ से शान्ति से पूछ सकता है। मुझसे पूछने के विषय में किसी तरह की कोई रुकावट नहीं है।

जो काम महारम्भ से होता है वही काम विवेक होने पर अल्पारम्भ से भी हो सकता है, और जो काम अल्पारम्भ से हो सकता है वही अविवेक के कारण महारम्भ का बन जाता है। इस पर मैं अपने ही अनुभव का उदाहरण देता हूँ। जब मेरी आयु करीब दस बारह वर्ष की होगी उस समय की बात है कि जिस ग्राम में मैं उत्पन्न हुआ था वह मक्की प्रधान देश है। वहाँ मक्की पक जाय तब तो आनन्द मानते हैं और मक्की न पकने पर वर्ष खराब सम झते हैं। उस ग्राम के बड़े २ लोगों ने मिलकर गोठ करने का निश्चय किया। जिस देश में जो चीज पैदा होती है वहाँ उसी चीज के खाने का रिवाज होता है, अतः उन लोगों ने मक्की के भुजिये आदि बनाने का विचार किया।

मक्की के भुजिये बनाने के साथ ही भंग के भुजिये भी बनाने का विचार हुआ। मेरे मामाजी ने मुझसे कहा कि बाड़े में भंग के पौधे खड़े हैं, उनमें से भंग की पत्तियाँ तोड़ लाओ। उस समय भंग के विषय में आज की तरह का कायदा न था। इसलिए जगह जगह उसके पौधे होते थे। मेरे संसार के मामाजी वहाँ प्रतिष्ठित माने जाते थे। राज्य में भी उनका सम्मान था। धर्म का भी विचार रखते थे। संभवतः चौविहार भी करते थे और प्रतिक्रमण भी सामायिक किया करते थे।

उनके कहने पर मैं दौड़ गया और झोला (गोद) भर कर जो करीब सेर भर होगी भंग तोड़ लाया। मैं कह चुका हूँ कि वे धर्म का भी विचार रखते थे, इसलिये अधिक पाप के भय से डरना स्वाभाविक था। वे मुझ से कहने लगे कि इतनी भंग क्यों तोड़ लाया? थोड़ी सी भंग की जरूरत थी! इस तरह थोड़ी सी भंग की जगह बहुत भंग लाने के कारण उलाहना देने लगे। लेकिन

वास्तव में मेरा ही कसूर था या उनका भी ? वह अधिक पाप मेरे को ही हुआ या उनको भी ? मैं बच्चा था इससे मुझमें विवेक नहीं था और न उन्होंने कहा था कि कितनी लाना। इस तरह न उन्होने विवेक दिया न बच्चा होने के कारण मुझ में विवेक था। इस तरह अधिक पाप का कारण अविवेक रहा। यदि विवेक होता तो वह अधिक पाप क्यों होता ?

इसलिये पत्ता तोडने का कार्य करने के बजाय कराने में अधिक पाप हुवा, क्योंकि अपने हाथ से लाते तो जितनी आवश्यकता थी उतनी ही लाते, अधिक नहीं।

विवेक होने के कारण अल्प पाप होने की जगह महापाप होने के और भी बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं। सेठ वरदभाणजी कहते थे कि मैं जंगल गया। वहाँ नौकर से पानी भर लाने के लिये कहा। वह वनस्पति लीलोतरी फूलण आदि कुचलता हुवा दौड़ गया और लोटा मांज कर उसी में धोकर जैसा तैसा छाना-बेछाना पानी भर लाया। अब यह अधिक पाप किसको हुआ ? इसका कारण क्या है ? क्या यह पाप करने वाले को ही हुवा, कराने वाले को नहीं ? यदि सेठ स्वय पानी भरने जाते और विवेक से काम लेते तो कितना पाप टाल सकते थे ? लेकिन इन्होंने नौकर को भेजा और उसने विवेक नहीं रखा। वह सेठ का ही भेजा हुआ गया था। इसलिये क्या सेठ को उसका पाप नहीं लगा ?

मतलब यह है कि इस तरह, करने की अपेक्षा दूसरे से कराने में ज्यादा पाप हो गया या नहीं ? फिर भी किसी के मनमें कोई सन्देह की बात हो तो वह मुझ से शान्ति से पूछ सकता है। मुझसे पूछने के विषय में किसी तरह की कोई रुकावट नहीं है।

इस धर्म के प्रवर्तक क्षत्रिय थे और यह धर्म प्रायः क्षत्रियों के पालने योग्य है। इस धर्म को राज्य करने वाले भी पाल सकते हैं। उदायन राजा सोलह देश का राज्य करते थे फिर भी वे अल्पारम्भी थे या महारम्भी? इतना राज्य करते हुए भी वे अल्पारम्भी रहे इसका क्या कारण है? इसका कारण यही है कि वे श्रावक होने के कारण विवेक से काम लेते थे। इसीसे भगवान् ने विवेक में धर्म बताया है। यदि विवेक में धर्म न होता तो यह धर्म क्षत्रियों के पालने योग्य कदापि न रहता किन्तु बनियों का ही रहता। लेकिन आज इस धर्म का ऐसा रूप बना दिया जाता है कि जिससे यह धर्म केवल बनियों के ही काम का मालूम होता है। विवेक रखते हुए राज्य करने पर भी राजा इस धर्म का भलीभांति पालन कर सकता है, और महारम्भी भी नहीं कहला सकता। इस तरह कभी करने में ज्यादा पाप हो जाता है, कभी कराने में ज्यादा पाप हो जाता है और कभी अनुमोदन में ज्यादा पाप हो जाता है, लेकिन विवेक न रखने से करने और कराने में भी उतना पाप नहीं होता जितना अनुमोदना से हो जाता है।

मान लीजिए एक राजा जैन है। उसके सामने एक ऐसा अपराधी आया कि जिसको फांसी की सजा हो सकती थी। वह राजा सोचने लगा कि मैं तो चाहता हूँ कि यह बच जावे तो अच्छा किन्तु इसके अपराध की भयंकरता को देखते हुए यदि इसको फांसी की सजा न दूंगा तो न्याय का उल्लंघन होगा। इस तरह उसने न्याय की रक्षा के खातिर बड़े संकोच के साथ उसको फाँसी की सजा दी। उसने फांसी लगाने वालों को हुक्म दिया कि इसको फांसी लगा दो। फांसी लगाने वाला उस अपराधी को फाँसी लगाने ले चला, वह भी अपने मन में सोचता था कि यह फांसी लगाने का

काम बुरा है। मैं नहीं चाहता कि किसी को फांसी लगाऊँ लेकिन राजा की नौकरी में नाम लिखाया है, इसलिये अब काम करने के समय इन्कार करना ठीक नहीं। राजा भी न्याय से बँधा हुआ है। इसी से उसने यह हुक्म दिया है। अन्यथा वह भी ऐसा हुक्म न देना चाहता होगा, इसी तरह मैं भी बँधा हुआ हूँ, इसीसे यह फांसी लगाने का काम करता हूँ।

इस तरह विचारता हुआ वह उस अपराधी को फासी लगाने के लिये ले गया और फासी दी। वहाँ एक तीसरा आदमी खड़ा था। राजा ने तो पश्चात्ताप करते हुए फासी का हुक्म दिया था और लगाने वाले ने भी मजबूरन फांसी लगाई थी, लेकिन उस तीसरे आदमी का कोई हुक्म नहीं चलता फिर भी खड़ा खड़ा अति उमगवश हुक्म देता है कि क्या देखता है? इसको फांसी लगा दे! इसको तो फासी देना ही ठीक है। लटका दे, देर मत कर।

अब इन तीनों में ज्यादा पाप किसको हुआ? राजा और फांसी लगाने वाला फासी देकर भी फासी के काम की सराहना नहीं करता है लेकिन वह आदमी मुफ्त में ही फांसी लगाने के काम की सराहना करके अनावश्यक आज्ञा देकर महापाप कर रहा है।

फांसी लगाने की जगह पर और लोग भी देख रहे थे। उनमें से जो विवेकी थे वे तो सोचते थे कि यह बेचारा पाप के कारण ही फांसी पर चढ़ रहा है। यदि इसने यह भयंकर पाप न किया होता तो इसको फांसी क्यों लगती? अपने को भी ऐसे पाप से बचना चाहिए। लेकिन जो अविवेकी थे, वे कहते थे कि अच्छा हुआ जो इसको फांसी लगी। यह बड़ा ही दुष्ट था, पर चतुर नहीं था। हम कैसे चतुर हैं कि अपराध भी कर लेते हैं और राजा को खबर भी

नहीं होने देते। हमारा कार्य किसी पर प्रकट ही नहीं होने पाता। हम वकील तो क्या बड़े २ बैरिस्टरों और राजा का भी पोलकर पी जाते हैं। सबको धक्का देते हैं। लोग धर्म की बात करते हैं लेकिन हम देख हैं कि धर्म को न मानने पर भी आराम में हैं।

इन दोनों तरह के विचार वाले दर्शकों में स महापापी कौन और अल्पपापी कौन हुआ ? इन दोनों तरह के विचार वाले दर्शकों में से अविवेकी दर्शकों ने महापाप बांधा या नहीं ? मैं यह नहीं कहता कि कराने से ही महापाप होता है करने से नहीं, या करने से ही महापाप होता है, कराने से नहीं। मैं तो यह कहता हूँ कि जहां अविवेक है वहां महापाप है और जहां विवेक है वहां अल्पपाप है। यह बात मैं और उदाहरण देकर भी बतलाता हूँ।

एक डाक्टर चीरफाड़ का काम जानता है लेकिन वह कहता है कि मुझे घृणा आती है, इस कारण मैं तो आपरेशन नहीं करता, और ऐसा कह कर वह कम्पाउन्डर से आपरेशन करने के लिये कहता है। कम्पाउन्डर अनाड़ी है, होशियार नहीं है, ऐसी हालत में वह डाक्टर स्वयं अपने हाथ से आपरेशन न करके कम्पाउन्डर से कराये तो उस डाक्टर को कराने में ही महापाप लगेगा। एक दूसरा डाक्टर जो स्वयं आपरेशन करना नहीं जानता या कम जानता है, वह जानने वालों से कहे कि तुम आपरेशन करदो तो उसको कराने में भी अल्पपाप ही लगेगा। आपरेशन तो उसने भी कराया और उस ने भी। स्वयं तो दोनों ने नहीं किया परन्तु पहले डाक्टर को तो महापाप लगेगा और दूसरे को अल्प लगेगा। इसी तरह कोई तीसरा आदमी स्वयं आपरेशन करना जानता नहीं है लेकिन जो जानता है उसे रोक कर स्वयं ऑपरेशन करे तो उसको महापाप होगा। ऐसे आदमी का किया हुआ ऑपरेशन कदाचित्

सुधर भी जावे तब भी सरकार उसका अपराध ही मानेगी कि उसने न जानते हुए भी ऑपरेशन किया। उस पहले डाक्टर के कराने पर भी महापाप लगा, दूसरे के कराने पर भी अल्प पाप लगा और तीसरे को स्वयं करने पर भी महापाप लगा। इसका कारण यही है कि इन तीनों में विवेक का अन्तर है। इस तरह सरकार भी उस डाक्टर को अपराधी मानती है जिसने न जान्ते हुए भी आपरेशन किया है, यद्यपि उसका ऑपरेशन सुधर गया है, तथापि विवेक उसमें नहीं है। इस तरह धर्म में भी विवेक को देखने की परमावश्यकता है। और देखिये—

एक बाई विवेक रहित है और एक विवेकवती है। विवेक वाली बाई विचार करे कि रोटी बनाने में पाप लगता है, परन्तु रोटी खाने और कुटुम्बियों को खिलाने की जवाबदारी से मुक्त नहीं है। वह उस विवेक रहित बाई को रोटी बनाने के काम में लगाती है। वह अविवेकी होने के कारण आग तत्व और उसकी शक्ति को नहीं जानती थी इस कारण असावधानी से उसके कपड़े में आग लग गई। वह मर गई। उसके मरने से वह विवेक वाली बाई प्रसन्न होगी या अप्रसन्न? वह सोचेगी कि मैंने इसको कहाँ रोटी बनाने को बैठा दी? यदि मैं ही विवेक से करती तो यह अनर्थ नहीं होता। अब कहिये उसको कराने में अधिक पाप हुआ या वह स्वय विवेक पूर्वक करती तो ज्यादा होता? इसी तरह एक बाई स्वय तो विवेक रखती नहीं परन्तु उस विवेक वाली को न करने दे और आप खुद करने बैठे तो करने में अधिक पाप हुआ या नहीं?

इस तरह जहाँ विवेक है वहाँ तो करने में भी अल्प पाप है और कराने में भी अल्प पाप है पर जहाँ विवेक नहीं है वहाँ करने

में भी महापाप है और कराने में भी महापाप होता है। इस प्रकार विवेक से महापाप के काम अल्प पाप से भी हो सकते हैं और विवेक न होने से अल्प पाप के काम भी महापाप के बन जाते हैं। यह तो विवेक की बात हुई।

अब करने, कराने और अनुमोदन में से किसमें पाप अधिक हो सकता है यह देखिए। आप स्वयं हाथ से आरम्भ करने लगें तो कितना भी करें, वह होगा मर्यादित ही। लेकिन कराने में तो लाखों करोड़ों से भी करने के लिये कहा जा सकता है। करने में तो दो ही हाथ रह सकते हैं लेकिन कराने में तो लाखों करोड़ों हाथ लग सकते हैं करने का तो समय भी मर्यादित ही होगा परन्तु कराने में तो समय का भी विचार नहीं रह सकता। करने का तो क्षेत्र भी मर्यादित रहेगा परन्तु कराने का क्षेत्र भी बहुत होता है। इस तरह करने का तो द्रव्य भी मर्यादित रहता है, क्षेत्र भी मर्यादित रहता है और काल भी मर्यादित रहता है परन्तु कराने का तो द्रव्य भी बहुत है, क्षेत्र भी बहुत है और काल भी बहुत है। इस कारण स्वयं करने की अपेक्षा कराने में पाप ज्यादा खुला हुआ है। अब अनुमोदन को लीजिए—काम कराने में भी कोई व्यक्ति चाहिये ही परन्तु अनुमोदन तो यहाँ बैठे हुए ही सारे जगत के पापों का कर सकते हो। मैंने बड़ों के मुंह से इस विषय में एक उदाहरण भी सुना है। वे कहा करते थे कि एक आदमी ने महल बनवाया तो भी वह आरम्भ की सराहना नहीं करता, किन्तु डरता है लेकिन जब महल को देखने वाला कहता है कि यह महल कैसा अच्छा बनाया है! अमर नाम कर लिया है। इत्यादि, तो महल बनाने वाला तो अल्प पापी ही रहा किन्तु उसको अनुमोदन करने वाले महापापी हुए।

विलायती कपड़ा यहाँ नहीं बनता लेकिन यहाँ बैठे हुए ही

वहाँ के काम की अनुमोदना कर सकते हो। आजकल तो समाचार पत्रों में विज्ञापन भी बहुत निकला करते हैं। उनको देख कर यह कह सकते हो कि यह हमको नहीं मिला परन्तु बड़ा अच्छा है। इस तरह यहाँ बैठे हुए ही विलायत में होने वाले काम का अनुमोदन कर सकते हो। इस तरह अनुमोदन का द्रव्य क्षेत्र काल करने और कराने से भी बढ़ कर होता है। अनुमोदन का पाप ऐसा होता है कि बिना कुछ किये ही महारम्भ का पाप हो जाता है। जैसे श्री भगवतीजी सूत्र के चौबीसवें शतक में कहा है कि अगुल के असख्यातवें भाग अवगाहनावाला तदुलमच्छ, जो मगरमच्छ की आख के भांपण पर उत्पन्न होता है, मर कर सातवीं नरक गया। उसने ऐसा क्या किया था? इसके लिये युक्ति दी जाती है कि बड़े मगर मच्छ का मुँह खुला हुवा था। उसके मुँह में अन्य मछलियाँ श्वासोच्छ्वासकी क्रिया से जाती थी और वापिस निकल जाती थी। वह तन्दुल मच्छ यह देख कर सोचता था कि यह मगर कैसा मूर्ख है जो अपने मुह में आई हुई मछलियों को वापिस निकलने देता है। यदि इसकी जगह मैं होता तो एक भी मछली को बाहर न निकलने देता किन्तु सबको खा जाता। जो कि वह ऐसा कर नहीं सकता है फिर भी मर कर सातवीं नरक में गया। इस तरह करने और कराने की अपेक्षा अनुमोदना का क्षेत्र बड़ा है।

पूज्य श्री उदयसागरजी महाराज से सुना हुआ यह स्तवन मुझे याद है—

जीवडा मत मेले रे यो मन मोकलो, मन मोकलडे रे हाण ॥
जिन हीज नयणे रे निरखे सुन्दरी तिनहीज चेनड जाण।
पुन्यतणे परिणामे विचारतो मोटी निपजे रे हाम ॥

यह पुराना भजन है। इसमें बताया है कि रक्षाबन्धन आदि त्यौहार पर बहन पहन ओढ़कर अपने पितृगृह जाती है। वह जवान है, सुन्दरी है, शृंगारयुक्त है। भाई उसको जिन आँखों से देखता है उन्हीं आँखों से अपनी स्त्री को देखता है किन्तु इन दोनों के देखने में अन्तर है या नहीं ? यदि अन्तर है तो आँखों में है या मन में ? आँखें तो किसी को बहन या स्त्री बनाती हो नहीं, मन ही बनाता है। यही स्त्रियाँ जब किसी महात्मा के सामने आती हैं तब वे उनको बहन ही मानते हैं।

इस तरह यह मन पाप भी पैदा करता है और पुण्य भी। इसीलिये कहा है कि इसे संकोच कर रक्खो। पाप और पुण्य का कारण मन ही है। कहा है कि— 'मन एव मनुष्याणां, कारणं बन्धमोक्षयो" इस तरह काया से न करने पर भी जीव मन के द्वारा कर्मबन्ध कर लेता है।

कोई कह सकता है कि जैनधर्म में तो मन वचन काय, इन तीनों को ही कर्मबन्ध का कारण कहा है। फिर मन ही को पाप का कारण कैसे बता रहे हो ? इसका उत्तर यह है कि वचन और काय के साथ भी तो मन रहता है। किन्तु इस समय मैं मुख्यतया मन का ही बयान करता हूँ अतः मन ही के लिये कहता हूँ। आप देखते बहन को भी हैं और स्त्री को भी। फिर भी मन के भावों से ही पाप और पुण्य का बंध होता है। यह बात मनुष्य की हुई। अब पशु को भी देखिये। बिल्ली किसी जगह अपने बच्चों को तकलीफ देखती है तब उनको वहाँ से हटाने के लिये पहले जाकर स्थान देख आती है। फिर उन बच्चों को मुंह से उठा कर ले जाती है। वे बच्चे उसके मुंह में दबे हुए अज्ञानता के कारण चूँ-चाँ करते हैं फिर भी आप उन बच्चों को छुड़ाने के लिये क्या दौड़ते हैं ?

क्यों नहीं दौड़ते ? आप जानते हैं कि ये इसके बच्चे हैं। इसके भाव मारने के नहीं हैं। समझ लो कि वह बिल्ली बच्चा रख आई और इतने में ही उसके सामने चूहा आया। उसने चूहे को पकड़ लिया। वह चूहा भी उसके बच्चों की तरह उसी के मुँह में दबा हुआ चूं चां करने लगा। तब क्या आप उसको छुड़ाने के लिये नहीं दौड़ते हैं ? क्यों दौड़ते हैं ? इस कारण कि बिल्ली के मन में बच्चों को मारने के भाव तो नहीं थे लेकिन चूहे को मारने के भाव हैं। बिल्ली सारे ससार के चूहों को नहीं मार सकती फिर भी वह संसार के सब चूहो की बैरन मानी जाती है, क्योंकि उसके भाव चूहों को मारने के हैं। वह भाव कहाँ है ? मन मे ही न। इस तरह मन ही पाप का कारण है। मन बडा शैतान है, इसके लिये शास्त्र का प्रमाण भी है।

श्रीभगवती सूत्र में श्रीगौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् महावीर स्वामी फरमाते हैं कि जिस पुरुष ने किसी को मारने का सकल्प करके धनुष चढ़ा कर उसको कान तक खींचकर बाण छोड़ा, उस समय उस पुरुष को कायिकी आदि पांचों क्रियाएं लगती हैं, क्योंकि उसने संकल्प करके बाण चढ़ाया था व छोड़ा था, इस लिये उसको पांचों ही क्रिया लगती हैं। भगवान् महावीर आगे फरमाते हैं कि बाण छोड़ने में धनुष जीवा, बाण, आदि जिन पदार्थों का सयोग मिला है। यह धनुष आदि भूतकाल में जिन वनस्पत्यादि जीवों के शरीर से बने हैं और वे वर्तमान में जिस गति में हैं उन जीवों को भी पाचों ही क्रिया लगती हैं, और जहां संकल्प नहीं है वहां चार बताई हैं। वही बाण आकाश से नीचे गिरते हुए अन्य जीवों की हिंसा करे तो उस समय उस बाण व लकड़ी आदि के जीवों को तो पाच क्रियाएँ बताई हैं, और जिसने

बाण छोड़ा था उसे तथा धनुष के जीवों को चार क्रियाएँ बताई हैं क्योंकि उसका संकल्प उन जीवों को मारने का नहीं था अतः उसे चार ही क्रिया बताई गई है और बाण भाला आदि के जीवों को पांच क्रियाएँ बताई हैं। इसका कारण यह कि निमित्त उनके शरीर का है जिसके द्वारा हिंसा होती है। यह बात भगवती सूत्र के पांचवें शतक के छठे उद्देशे में कही है। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि जो पाप केवल हम करें वही लगे, जो न करें वह बिरोध नहीं लगता, यह बात नहीं है।

कहने का सारांश यह है कि किसी समय करने में पाप ज्यादा होता है और कराने से कम होता है। कभी कराने में ज्यादा। यह बात विवेक अविवेक पर निर्भर है। हां यह अवश्य है कि करने की अपेक्षा कराने का द्रव्य क्षेत्र काल ज्यादा है, और कराने की अपेक्षा अनुमोदना का ज्यादा है, यही तरह पुण्य और धर्म के लिए भी है। फिर भी प्रत्येक काम में विवेक की आवश्यकता है। विवक न होने पर अविवेक के कारण धम का पाप और अल्पारम्भ का महारम्भ भी हो जाता है।

कोई यह भी प्रश्न कर सकता है कि जब पाप का कारण अविवेक ही ठहरा तब यदि करने वाला और जिससे कराया जावे वे दोनों ही विवेकी हों और उस दशा में स्वयं न करके उस दूसरे से, जो कि विवेकी है, कराया जाय तो क्या हर्ज है? उस दशा में तो कराने में ज्यादा पाप न होगा? फिर तो चाहे कराया जावे या किया जावे तो समान ही होगा? इसका उत्तर यह कि विवेक आवश्री तो कराने में ज्यादा पाप न लगेगा, लेकिन कराने में करने की अपेक्षा जो द्रव्य क्षेत्र काल ज्यादा खुला हुआ है, उसका पाप तो

ज्यादा लगेगा ही। इस विषय में विशेषतः विवेक और मन के भावों से ही अधिक जाना जा सकता है।

अब प्रश्न यह होता है कि हम सामायिक में बैठते हैं तब करने और कराने का ही पाप त्यागते हैं। जब अनुमोदना का पाप ज्यादा है तब उसका त्याग क्यों नहीं करते ? बड़े पाप का त्याग क्यों नहीं किया जाता ? इसका उत्तर यह है कि अनुमोदना का पाप त्यागने की शक्ति न होने के कारण ही इसका त्याग नहीं कराया जाता। प्रत्येक काम अपनी अपनी शक्ति के अनुसार ही होता है।

भगवान् ने अनुमोदन का त्याग करने की शक्ति नहीं देखी इस लिये उसका त्याग नहीं बताया है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि करने और कराने के पाप से अनुमोदना का पाप छोटा है। आप गृहस्थ होने के कारण अनुमोदना के पाप से बच भी नहीं सकते। जैसे आप सामायिक में बैठे है उस समय आप करने कराने का त्याग तो करके बैठते हैं लेकिन आपके घर पर व दुकान आदि का जो काम हो रहा है क्या उसका भी त्याग करते हैं ? इस कारण अनुमोदना का त्याग कैसे कर सकते हैं ?

इस प्रकार दुराग्रह का त्याग करके, शास्त्र के विधान को दृष्टि में रखते हुए, सत्य को समझने का प्रयत्न करना सम्यग्दृष्टि का कर्त्तव्य है।

व्रत-विचार

१
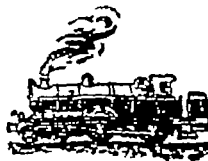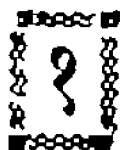
अहिंसाणुव्रत

सब जीव सुख चाहते हैं।

मनुष्य-प्राणी संसार के तमाम जीवों में महा बुद्धिशाली माना गया है। यह प्राणी स्व-पर का जितना ज्ञान कर सकता है, उतना और कोई भी प्राणी नहीं कर सकता। जिस प्रकार यह अपने सुख-दुःख का ज्ञानी होता है उसी प्रकार इसमें यह भी ताकत है, कि यह दूसरे प्राणियों के सुख-दुःख का भी ज्ञान प्राप्त कर सके।

वैसे तो हर एक मनुष्य को यह ज्ञान किसी अंश तक प्राप्त है, पर सर्वांश में उन्हीं महापुरुषों को प्राप्त होता है जो तीर्थंकर तथा सर्वज्ञ कहे जाते हैं। साधारण मनुष्य ज्यादा से ज्यादा अपनी चक्षु-इन्द्रिय आदि की स्थूल-शक्ति जहाँ तक काम कर सकती है, वहाँ तक किसी वस्तु के बारे में ज्ञान प्राप्त कर सकता है, पर तीर्थंकर या सर्वज्ञ कहे जाने वाले महापुरुषों में यह शक्ति होती है कि वह

अदृष्ट तमाम वस्तुओं की अर्थात् जीव-अजीव की अन्त तक की असलियत का ज्ञान रखते हैं। इसलिये शास्त्रकार उनको खेयन्ने, (खेदज्ञ) का विशेषण देते हैं।

यह तो आप जान ही गये होंगे, कि जीव और अजीव कहने में ससार की तमाम वस्तुओं का ग्रहण हो जाता है। तीर्थङ्कर प्रभु व सर्वज्ञों ने हमें ज्ञान कराया है कि 'समस्त जीव, सुख के अभिलाषी हैं, कोई भी दु ख को पसन्द नहीं करता।'

ससार के जीवों की इतनी विचित्र जातियाँ है, कि हम उनकी गिनती नहीं कर सकते। अतएव प्रभु ने हमें इन तमाम जीवों के मोटे पाँच भाग कर, सब का बोध करा दिया है। वे पाँच भाग ये हैं:—

'एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय चौइन्द्रिय और पचेन्द्रिय।

अर्थात्—एक इन्द्रिय वाले जीव, दो इन्द्रिय वाले जीव, तीन इन्द्रिय वाले जीव, चार इन्द्रिय वाले जीव और पाँच इन्द्रिय वाले जीव।

पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक और वनस्पति आदि जिनके केवल एक स्पर्श इन्द्रिय होती है, उनकी एकेन्द्रिय जीवों में गिनती है। जिनके स्पर्श और रसेन्द्रिय हों, उनकी बेइन्द्रिय जीवों में गिनती है। जैसे कृमि आदि। जिनके स्पर्श, रस, घ्राण तीन इन्द्रिय हों, उनकी त्रीन्द्रिय जीवों में गिनती है जैसे चींटी आदि। जिनके स्पर्श, रस, घ्राण और चक्षु-इन्द्रिय हो, उनकी चौइन्द्रिय जीवों में गिनती है। जैसे मक्खी आदि। जिनके स्पर्श,

रस, गन्ध, चक्षु और श्रोत्र हों उनकी पंचेन्द्रिय जीवों में गिनती है। जैसे देवता मनुष्य तिर्य्यंच, नारक आदि।

जल में जीव हैं, यह बात आज के साइन्स ने पूर्ण-रीति से सिद्ध कर दी है। हम आँखों से नहीं देख सकते, पर वैज्ञानिकों ने यन्त्रों के द्वारा, जल में लाखों जीव बतलाये हैं, पर ये जल के जीव नहीं—ये तो त्रसजीव हैं। जल खास स्थावर योनि के जीवों का पिंड है। इससे निश्चय होगया है कि जैन सिद्धान्त सत्य ही है।

जिस प्रकार कई लोग जल में जीव नहीं मानते, वैसे ही वनस्पति में भी नहीं मानते, पर विज्ञान के बल से अब यह संदेह मिटता जाता है। वैज्ञानिकों ने इनमें जीव होना सिद्ध कर दिया है। विज्ञानाचार्य जगदीशचन्द्र बोस का नाम आप लोगों ने सुना होगा। वे संसार के बहुत बड़े वैज्ञानिकों में गिने जाते हैं। इनका यूरोप, अमेरिका आदि देशों में बड़ा मान किया जाता है। संसार के कई धुरन्धर-वैज्ञानिक इनको अपना गुरु मानने में सौभाग्य समझते हैं। इन्होंने 'वनस्पति में जीव हैं' इसका प्रयोग बम्बई में करके बतलाया था। सुना गया है कि दर्शकों की फीस ५० रु० थी। लोकमान्य-तिलक, इस जलसे के प्रेसीडेण्ट थे। लोगों की भीड़ बहुत ज्यादा थी। ४ रु टिकट के देने पर भी, लोगों को जगह नहीं मिलती थी। जगदीश बाबू जिस समय अपना प्रयोग दिखाने लगे उस समय सामने की लाइन में पौधों के गमले रक्खे। उन गमलों के आगे की तरफ काँच के बड़े-बड़े तख्ते लगाये। फिर सूक्ष्म-दर्शक यन्त्र को योग्य स्थान पर खड़ा कर, उपस्थित जन-समुदाय से कहा कि आप लोग सामने देखिये मैं इन पौधों को खुश करता हूँ। इतना कह कर बोस बाबू पौधों को हर्षोत्पादक शब्दों में सम्बोधन कर उनकी तारीफ करने लगे। ज्यों-ज्यों तारीफ करते गये त्यों-त्यों वे

पौधे, जैसे किसी आदमी की स्तुति करने पर वह आदमी खुश होता है उसी प्रकार खुश होकर फूलने लगे। पर जब इन्होंने उनकी निन्दा करनी शुरू की, उनके लिए खराब शब्द प्रयोग करने लगे, तो वे पौधे मुरझाने लगे। लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ। उनको विश्वास हो गया कि वृक्षों में जीव होता है।

बोस बाबू इतना ही करके न रह गये, पर उन्होंने वृक्षों में स्नायु-जाल है और वह मनुष्यों की तरह स्पन्दित होता है, इसको भी सिद्ध कर बतलाया।

वैज्ञानिकों ने जिस प्रकार वनस्पति में जीव सिद्ध किया है, उसी प्रकार धातुओं में भी सिद्ध किया है।

ये एक दो प्रयोग ४०) रु० खर्च करने पर मालूम पड़े, पर आप जैन-सिद्धान्त के लघुदंडक नामक एक थोकड़े को सीख कर साइन्स का बहुत विज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

इनका साइन्स अभी अपूर्ण है, पर हमारे अरिहन्तों का साइन्स बहुत बढ़ा चढ़ा है। वहाँ तक पहुँचने में इन वैज्ञानिकों को न जाने कितना समय लगेगा। इन्होंने अभी एक अंश की ही खोज की है, पर हमारे शास्त्रों ने वनस्पति का शरीर, अवगाहना, कषाय, संज्ञा, लेश्या, वेद, ज्ञान योग स्थिति और गतागति आदि का भी वर्णन कर दिया है। ये शास्त्र, आजकल के प्रयोगों को देखकर नहीं लिखे गये, पर हजारों वर्ष पूर्व के लिखे हुये हैं।

वनस्पति में, एक इन्द्रिय मानी जाती है। कई भाई शङ्का कर सकते हैं कि जब इनमें एक इन्द्रिय है, कान आदि तो हैं ही नहीं फिर निन्दा स्तुति का ज्ञान किस प्रकार करते होंगे? इस विषय में

'आचारांग' 'विशेषावश्यक सूत्र' तथा 'ठाणांग-सूत्र' की टीका में बहुत अच्छा खुलासा किया गया है, वहाँ देखना चाहिये। *

हाल के विज्ञान ने वनस्पति, जल आदि में जीवों की सत्यता प्रकट की पर अग्नि, वायु आदि में अभी तक नहीं कर सका। इससे हमको निराश न हो जाना चाहिए। क्योंकि हम पहले ही कह चुके हैं कि यह अभी तक अपूर्ण है। सम्भव है, यह अपनी इसी प्रकार की कारिगरी के बल से किसी दिन इस सत्य तक भी पहुँच जाय।

तात्पर्य यह कि जब वनस्पति आदि एकेन्द्रिय जीव भी सुख-दुःख का अनुभव करते हैं और दुःख को न चाह कर सुख को पसन्द करते हैं तब अन्य प्राणी भी सुख ही चाहते हैं, इसमें क्या सन्देह हो सकता है।

मित्रो! क्या उन महापुरुषों की वाणी अपने अकेले के लिए ही है? नहीं-नहीं जैसे वृक्ष के फल हरएक के लिए हैं वैसे ही शास्त्र हरएक के लिए हैं—उनसे हरएक तिर सकता है।

आप कह सकते हैं, कि सिद्धान्त किसका सत्य मानना चाहिए? संसार में जैन वैष्णव क्रिश्चियन मुसलमान सभी के सिद्धान्त प्रचलित हैं और सभी यही मानते हैं, कि हमारे सिद्धान्त को मानो तो तिर जाओगे। ऐसी दशा में किस सिद्धान्त पर चलना चाहिए? इसका उत्तर यह है कि जो सिद्धान्त, आप्तवाणी से पूर्ण हो अर्थात् जिसके लिये स्वयं अपना आत्मा भी गवाही देता हो और जिससे इहलौकिक तथा पारलौकिक कल्याण की सिद्धि हो, ऐसे राग-द्वेष रहित एवं वीतराग द्वारा कथित सिद्धान्त को, सत्य समझना चाहिये।

---

* यहाँ एकेन्द्रिय जीवों के भी भाव-रूप पाँचों इन्द्रियों का क्षयोपशम बतलाया है। उपकरण इन्द्रिय एक ही होने से उन्हें एकेन्द्रिय कहा है।

बड़े-बडे ग्रन्थों में जो बातें है. महात्मा पुरुषों ने, अपने लिए थोडे शब्दों में उनका सार कह दिया है कि—

'अहिंसा परमो धर्म ।'

तुलसीदासजी ने भी इस बात को एक दोहे में स्पष्ट किया है—

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान ।
तुलसी दया न छोडिये, जब लग घट में प्राण ॥

धर्म का मूल क्या है ? 'दया ।'

दया किस लिए ? दया क्यों समझनी चाहिए ? क्या जैन-शास्त्र कहता है इसलिए ? या वेदान्त या वैष्णव कहते हैं, इसलिए ? नहीं, इसलिए कि वह धर्म का मूल है ।

हिंसा

हिंसा पाप क्यों है ? यह प्रश्न और किसी से न पूछो । अपने आत्मा से ही पूछो । दया, आपको क्षण-क्षण में नजर आयगी और वह जरूरी है, इसीलिए धर्म का मूल मानी गई है । इसके लिए शास्त्र के प्रमाण की कोई जरूरत नहीं. किन्तु अनुभव-प्रमाण अथवा आत्म-प्रमाण से ही इसकी सत्यता जानी जा सकती है ।

आपके सामने, एक आदमी चमकती हुई नगी तलवार लेकर खडा है और वह आपको मारना चाहता है दूसरा मनुष्य आपकी रक्षा की चेष्टा करता हुआ, उसे इस बात का उपदेश देता है कि प्यारे ! इसको क्यों मार रहा है ? यह जबाव देता है कि 'इसे मारना मेरा धर्म है, मनुष्य की हत्या करने से पुण्य होता है, ऐसा मेरा

शास्त्र कहता है ।' बतलाइये इन दोनों में से आपको प्यारा कौन लगेगा ?

'रक्षा करने वाला ।'

जो मनुष्य तलवार के द्वारा आपके जीवन का अन्त करना चाहता है वह यह कृत्य करता तो है अपने शास्त्र के अनुसार ही, पर आप उस शास्त्र को कैसा मानेंगे ?

"वह शास्त्र नहीं, बल्कि शस्त्र है ।"

क्यों ? 'इसलिये कि वह अपने आत्मा के विरुद्ध है ।

बस, आत्मा के विरुद्ध जो-जो बातें हों वे ही अधर्म हैं। उनका करना पाप है। इसलिए उन कार्यों की मनाई की गई है। महाभारत के अन्दर भीष्म पितामह ने यही बात कही है—

'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।'

मित्रो ! दया केवल मनुष्यों में ही नहीं होती, परन्तु इसका किंचित् बाह्यरूप दूसरे प्राणियों में भी देखने में आता है। सिंहनी, दूसरों पर देखते ही हमला करती है, लेकिन क्या वह अपने बच्चे पर भी हमला करती है ?

'नहीं ।'

क्यों ? इसीलिए कि उसमें भी अपनी सन्तान के प्रति दया है।

साँप एक जहरीला जानवर है, किन्तु उनमें भी कई एक के व्यवहार में दया देखी जाती है। जैसे नूरजहाँ पर सर्प ने छत्र किया था उसे काटा नहीं। सेंधियों के आदि पुरुष महादजी सेंधिया

पर भी, सर्प ने छाया की थी, इस कारण साँप का चिह्न आज भी ग्वालियर के सिक्के और झण्डे पर मौजूद है।

मनुष्य में भी कुछ अंश में व्यावहारिक दया है, नहीं तो एक दूसरे को मार डाले। माता बच्चे को सूखे में सुलाती है, पर स्वयं गीले में सोती है। क्यों ? क्या वह बच्चा जन्मते ही उसे कमा कर देता है ? या और कुछ सहायता करता है ?

'नहीं।'

तब माता ऐसा क्यों करती है ?

इसीलिये कि उसमें अपनी सन्तान के प्रति व्यावहारिक दया है।

मित्रो ! दयाहीन प्राणी, हिंसक, क्रूर, पापी, निर्दयी, म्लेच्छ कहा जाता है, अतएव दया करना सबका मुख्य कर्त्तव्य होना चाहिये। दया का दूसरा नाम ही अहिंसा है, क्योंकि जिसमें हिंसा न हो, उसे अहिंसा कहते हैं। जैसे नहीं मारने में हिंसा नहीं है, उसी प्रकार रक्षा करने में भी हिंसा नहीं है। इसलिए दया और अहिंसा एक ही बात है। जो लोग नहीं मारने को तो अहिंसा कहते हैं, परन्तु जीवों को बचाने में अहिंसा नहीं मानते, वे भारी भूल करते हैं। क्योंकि जीव को बचाने में भी किसी जीव की हिंसा नहीं है, फिर वह अहिंसा क्यों नहीं है ? अवश्य है।

मोटी समझ से 'हिंसा' वह कृत्य कहलाता है, जिसके द्वारा किसी प्राणी के जीवन का अन्त किया जाय।

प्रश्न उठ सकता है, कि जब आत्मा अजर-अमर अविचल

है, त्रिकाल में भी मारने से नहीं मरता तब हिंसा कैसी ? जो वस्तु नाश नहीं होती उसका नष्ट होना कैसा ? उदयपुर के एक वकील ने भी यही प्रश्न किया था।

भाइयो ! आत्मा अविनाशी है, तभी तो हिंसा लगती है। यदि आत्मा अनात्मा बन जाता हो, तो हिंसा किसे लगे ? मारने वाले का आत्मा नष्ट हो गया और मरने वाले का आत्मा मारा हो गया तब तो हिंसा अहिंसा का सवाल ही नहीं रहा। आत्मा अजर-अमर अविनाशी है इसीसे मारने वाले को पाप और बचाने वाले को धर्म होता है। आत्मा के पास आयुष्य-रूप प्राण है जो दस प्राणों में अन्तिम प्राण है। उसको अकाल में जुदा कर देना यानी आत्मा से प्राणों का अलग कर देना इसी का नाम हिंसा है। जैसे—जो रात भर लालटेन में जल सकता है उस पासलेट तेल को दियासलाई लगा कर एकदम जला डालना 'अकाल में नष्ट कर दिया' कहा जाता है। इसी प्रकार, आत्मा के पास आयुष्य—प्राण होते हुये भी छुरी तलवार आदि से दुःख पहुँचा कर शरीर का अन्त कर देना उसे हिंसा कहते हैं।

लोगों के विचार आज अति संकुचित हो रहे हैं। जब इनके विचार विशाल हो जायेंगे तब हिंसा के सच्चे स्वरूप का ज्ञान इनमें फैल जायगा। धर्म के विषय में दुनिया में जो कुतर्क फैल रहे हैं आप में जो खींचातानी की जाती है, वास्तविक ज्ञान के फैलने पर यह सब धम्माधुम्मी मिट जायगी।

मित्रो ! मोटी दृष्टि से जो हिंसा कही जाती है उसे आप समझ गये; पर जैन-शास्त्र इससे भी गहरी बात बतलाता है। वह कहता है कि किसी प्राणी को मन, वचन कर्म से किसी प्रकार का

दु ख पहुँचाना या दुःख देने का इरादा करना भी हिंसा है। इससे भी गहराई के साथ कहता है कि ऐसा करना, कराना और किये हुए को अच्छा मानना, अनुमोदन करना मन से, वचन से अथवा कर्म से वह भी हिंसा ही है।

यदि आप किसी को गाली देकर, उसका मन दुखाने का प्रयत्न करते हैं, तो समझिये कि मैं एक प्रकार की हिंसा कर रहा हूँ। यदि आप किसी का अपमान कर रहे हैं, तो भी समझ लीजिये कि मैं एक प्रकार की हिंसा का भागी बन रहा हूँ। यदि आप किसी को लड़ाई-झगड़ा करने की सलाह देते हैं, तो समझिये कि मेरा यह कृत्य एक प्रकार की हिंसा में शामिल है। इतना ही नहीं, मन से किसी का बुरा विचारना भी हिंसा है। इन तमाम हिंसाओं के करने वाले प्राणियों को, यथासमय वदला चुकाना पडता है। इन कृत्यों से गाढे चिकने कर्म बन्धते है।

शास्त्र-कथा में, तन्दुलमच्छ का उदाहरण आया है। लिखा है कि तदुलमच्छ समुद्र में रहने वाले, हजार योजन की अवगाहना वाले मच्छ की आँखों की भौं पर रहता है। तदुलमच्छ बहुत ही छोटा जीव होता है। उस बड़े मच्छ की स्वास से जल के साथ हजारों मच्छियें, मच्छ के मुख में खिच जाती है और उच्छ्वास छोड़ने पर वापस निकल आती हैं। यह दृश्य देखकर तदुलमच्छ विचारता है कि यदि इस मच्छ के स्थान पर मैं होता और मेरे मुँह में इतनी मछलियाँ आ गई होती, तो मैं एक भी मच्छी को वापस न निकलने देता, किन्तु सभी को खा लेता। यद्यपि तदुलमच्छ शरीर से कुछ नहीं कर सका, उसने केवल हिंसा की भावना ही की, फिर भी उसे सातवें नरक में जाकर असख्य वर्षों तक दुःख उठाना पड़ता है। क्योंकि उसने मानसिक हिंसा की।

है, त्रिकाल में भी मारने से नहीं मरता तब हिंसा कैसी ? जो वस्तु नाश नहीं होती, उसका नष्ट होना कैसा ? उदयपुर के एक वकील ने भी यही प्रश्न किया था।

भाइयो ! आत्मा अविनाशी है, तभी तो हिंसा लगती है। यदि आत्मा अनात्मा बन जाता हो, तो हिंसा किसे लगे ? मारने वाले का आत्मा नष्ट हो गया और मरने वाले का आत्मा नाश हो गया, तब तो हिंसा अहिंसा का सवाल ही नहीं रहा। आत्मा अजर-अमर अविनाशी है इसीसे मारने वाले को पाप और बचाने वाले को धर्म होता है। आत्मा के पास आयुष्य-रूप प्राण है जो दस प्राणों में अन्तिम प्राण है। उसको अकाल में जुदा कर देना यानी आत्मा से प्राणों का अलग कर देना, इसी का नाम हिंसा है। जैसे—जो रात भर लालटेन में जल सकता है उस पासलेट तेल को दियासलाई लगा कर एकदम जला डालना, 'अकाल में नष्ट कर दिया' कहा जाता है। इसी प्रकार आत्मा के पास आयुष्य—प्राण होते हुए भी छुरी तलवार आदि से दुःख पहुँचा कर शरीर का अन्त कर देना उसे हिंसा कहते हैं।

लोगों के विचार आज अति संकुचित हो रहे हैं। जब इनके विचार विस्तृत हो जायेंगे तब हिंसा के सच्चे स्वरूप का ज्ञान इनमें फैल जायगा। धर्म के विषय में दुनिया में जो कुतर्क फैल रहे हैं धर्म में जो खींचातानी की जाती है वास्तविक ज्ञान के फैलने पर यह सब अन्धाधुन्धी मिट जायगी।

मित्रो ! मोटी दृष्टि से जो हिंसा कही जाती है उसे आप समझ गये; पर जैन-शास्त्र इससे भी गहरी बात बतलाता है। वह कहता है कि किसी प्राणी को मन, वचन, कर्म से किसी प्रकार का

दु ख पहुँचाना या दुःख देने का इरादा करना भी हिंसा है। इससे भी गहराई के साथ कहता है कि ऐसा करना, कराना और किये हुए को अच्छा मानना, अनुमोदन करना मन से, वचन से अथवा कर्म से वह भी हिंसा ही है।

यदि आप किसी को गाली देकर, उसका मन दुखाने का प्रयत्न करते हैं, तो समझिये कि मैं एक प्रकार की हिंसा कर रहा हूँ। यदि आप किसी का अपमान कर रहे हैं, तो भी समझ लीजिये कि मै एक प्रकार की हिंसा का भागी बन रहा हूँ। यदि आप किसी को लडाई-झगड़ा करने की सलाह देते हैं, तो समझिये कि मेरा यह कृत्य एक प्रकार की हिंसा में शामिल है। इतना ही नहीं, मन से किसी का बुरा विचारना भी हिंसा है। इन तमाम हिंसाओं के करने वाले प्राणियों को, यथासमय बदला चुकाना पड़ता है। इन कृत्यों से गाढे चिकने कर्म बन्धते हैं।

शास्त्र-कथा में, तन्दुलमच्छ का उदाहरण आया है। लिखा है कि तदुलमच्छ समुद्र में रहने वाले, हजार योजन की अवगाहना वाले मच्छ की आँखों की भौं पर रहता है। तदुलमच्छ बहुत ही छोटा जीव होता है। उस बड़े मच्छ की स्वास से जल के साथ हजारों मच्छियें, मच्छ के मुख में खिच जाती हैं और उच्छ्वास छोड़ने पर वापस निकल आती हैं। यह दृश्य देखकर तदुलमच्छ विचारता है कि यदि इस मच्छ के स्थान पर मैं होता और मेरे मुँह में इतनी मछलियाँ आ गई होती, तो मैं एक भी मच्छी को वापस न निकलने देता, किन्तु सभी को खा लेता। यद्यपि तदुलमच्छ शरीर से कुछ नहीं कर सका, उसने केवल हिंसा की भावना ही की, फिर भी उसे सातवें नरक में जाकर असख्य वर्षों तक दुःख उठाना पड़ता है। क्योंकि उसने मानसिक हिंसा की।

जिस प्रकार मन में किसी का बुरा विचारना मानसिक हिंसा में गिना गया है, वैसे ही प्रकट रूप में किसी की निन्दा करना भी हिंसा के बराबर है। अर्थात् वाचिक हिंसा है और काय से बुरे काम में प्रवर्तना दुःख देना कायिक हिंसा है। इसके प्रमाण में महाभारत में भी एक उदाहरण मिलता है। महाभारत के युद्ध में जिस समय कर्ण के बाणों से घायल होकर युधिष्ठिर अपने शिविर में पड़े थे और अर्जुन उनकी कुशल पूछने आये तब युधिष्ठिर ने दुःख के आवेग में अर्जुन से कहा कि तुम्हें और तुम्हारे गाण्डीव धनुष को धिक्कार है! तुम्हारे मौजूद होते हुये कर्ण के बाणों ने मेरी यह दशा की और तुमने आज तक कर्ण का वध नहीं किया? अर्जुन ने प्रतिज्ञा कर रक्खी थी कि जो मनुष्य मेरे गाण्डीव की निन्दा करेगा, मैं उसका वध करूँगा। अतः युधिष्ठिर के मुँह से गाण्डीव धनुष की निन्दा सुनकर अर्जुन खड्ग निकाल कर युधिष्ठिर का वध करने चले। उस समय श्रीकृष्ण ने उन्हें रोकते हुये कहा, कि अपने से बड़े का अपमान कर देना ही उनका वध करना है। तुम युधिष्ठिर का अपमान उन्हें मारने दौड़कर कर चुके, अतः तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी हो गई। अब उनके वध करने की जरूरत नहीं है।

कहने का मतलब यह है कि किसी का अपमान करना उस व्यक्ति की हिंसा करने के बराबर है।

हिंसा का वर्णन इतना गहन है कि इसकी व्याख्या में बड़े बड़े विस्तृत ग्रन्थ बन सकते हैं किन्तु आचार्यों ने संक्षेप में यह वाक्य फरमाया है कि "प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणम् हिंसा" अर्थात् प्रमादभावी से प्राणों को नष्ट करना ही हिंसा है। इसलिये

हिंसा के पाप से बचने के लिए प्रत्येक कार्य मे सावधानी रखकर यतना करनी चाहिए। श्री दशवैकालिक सूत्र में कहा है, कि यतना पूर्वक उठता बैठता, सोता, चलता-फिरता, खाता-बोलता पाप-कर्म नहीं बाधता है और हिंसा के पाप से बच सकता है।

हिंसा के कारण

हिंसा, किन किन कारणों से होती है, इसका विवरण शास्त्र मे बहुत विस्तार से आया है। यदि उन तमाम कारणों का विस्तार पूर्वक वर्णन किया जाय, तो बहुत समय की जरूरत है। अत सक्षेप में ही बतलाया जाता है।

संसार में, करोडों ऐसे प्राणी विद्यमान हैं, जो हमें दृष्टिगत नहीं होते। उनका पुंज हमारे चारों तरफ चक्कर काटता है, पर हम उन्हें देख नहीं सकते। ऐसे प्राणियों की हिंसा, अनजान में चलते, फिरते बैठते, श्वास लेते, किसी वस्तु को इधर उधर रखते एव आग जलाते समय हो ही जाती है। चींटी आदि विकलेन्द्रिय प्राणी, जिन प्राणियों को आखों से देख सकते है, उनकी भी प्राय: अनजान में इसी प्रकार हिंसा हो ही जाती है। रहे बडे प्राणी, उनकी हिंसा मनुष्य क्यों करता है? इसके उत्तर में शास्त्र कहता है, कि कोई मांस के लिये, कोई हड्डियों के लिये, कोई चमड़े क लिये, कोई चर्बी के लिये, कोई दांतों के लिये, कोई रक्त के लिए, कोई बालों के लिये। इसी प्रकार अनेक भिन्न २ स्वार्थों के कारण, विचारे पशुओं की हिंसा की जाती है। पशुओं की ही नहीं मनुष्यों की भी हिंसा की जाती है।

किसी वस्तु को सड़ा कर, उसका कोई पदार्थ तैयार करना, यह भी एक हिंसा का ही कारण है। क्योंकि सड़ाने पर उस वस्तु

में सैंकड़ों सूक्ष्म जीव पैदा होते हैं जैसे शराब आदि। ऐसी चीज़ काम में लाने वाले उन जीवों की हिंसा के कारण बनते हैं, तथा उन जीवों के मरने पर दुर्गन्ध आदि फैलकर जो रोगादि फैलाते हैं यह भी हिंसा का ही साधन माना गया है।

इसी तरह कितनेक अज्ञानी कुतूहलवश भी प्राणियों की हिंसा करते हैं। जब वे बेचारे पशु कष्ट पाकर चिल्लाते हैं, तब वे अज्ञानी खुश होते हैं और अपने चित्त में आनन्दानुभव करते हैं। उन्हें यह विचार नहीं आता कि यह बेचारा परवश दुःख पा रहा है, आक्रन्द कर रहा है, इसकी आत्मा को घोर दुःख हो रहा है। मुझे दया लाकर इसे कष्ट से मुक्त करना चाहिये, अपितु उसको तड़फड़ाता हुआ देखकर प्रसन्न होते हैं। नारकी में भी नैरयिकों को पीड़ा देखकर परमाधर्मी देव इसी तरह खुश होते हैं और उनकी चिल्लाहट को कुतूहल का विषय बना लेते हैं। अज्ञान से महान चिकने कर्मों का बन्ध होता है। वही परमाधर्मी देव देवयोनि से च्यव कर स्वल्पकालीन तिर्यंच योनि में आ जाते हैं और वहां से काल करके उसी नरक में नैरयिक बन जाते हैं और वे नैरयिक जो मार खाते थे वहां से आयु पूर्ण होने पर तिर्यंच का भव करके परमाधर्मी देव बन जाते हैं जो अब मारते हैं। इस प्रकार अज्ञान-भावना कुतूहलवश भी प्राणियों की हिंसा करता है।

कई एक अज्ञानी धर्म-भावना को लेकर भी प्राणियों की हिंसा करते हैं। जिनमें कुछेक स्वार्थ-लोलुप लोगों ने देवता आदि को प्रसन्न करने के हेतु तथा कुछेक अभिमानी लोगों ने अभिमान में आकर अज शब्द का अर्थ बकरा आदि पशु करके वेदादि की श्रुतियों में अश्वमेध, गोमेध, नरमेध आदि यज्ञों का विधान करके उसको धर्म का रूप दे दिया है और यज्ञ होम में बलि दिया हुआ

पशु तथा देने वाला स्वर्ग-सुख प्राप्त करता है। ऐसे विधान से भोली जनता बिचारे मूक पशुओं की हिंसा करने लग गई है। परन्तु ऐसी हिंसा धर्म नहीं—अधर्म ही है। बड़े २ ऋषि-मुनियों ने इस कार्य की निन्दा करते हुए कहा है कि—

यूप छित्वा पशून्हत्वा, कृत्वा रुधिरकर्दमम्।
यद्येवं गम्यते स्वर्गे नरके केन गम्यते ॥ १ ॥

महाभारत शान्तिपर्वणि।

यज्ञ के करने वाले पशु के हनने वाले, बलि देकर रुधिर का कीचड करने वाले भी जो स्वर्ग में जावेंगे, तो फिर नरक में कौन जावेगा? इससे स्पष्ट है कि प्राणी-हिंसा मे धर्म नहीं, किन्तु अधर्म ही है। इस प्रकार अनेक कार्य ऐसे हैं जो हिंसा के कारण हैं। ऐसे हिंसा के कारणों को समझ कर उनसे बचना ही बुद्धिमानी है।

अहिंसाव्रत के अतिचार

स्थूल प्राणातिपात से निवर्तने वाले व्रतधारी श्रावक को पंच अतिचार जानने योग्य हैं, परन्तु आचरण करने योग्य नहीं है। वे पांच अतिचार ये हैं —(१) बन्धन (२) वध (३) छविच्छेद (४) अतिभार (५) भत्तपाणी-विच्छेद।

किसी रस्सी आदि से बांधना, उसे 'बधन' कहते हैं। चाबुक आदि से मारना, उसे 'वध' कहते है। करवत आदि शस्त्रों से शरीर को फाड़ना या शस्त्र द्वारा किसी अवयव को काटना, छेदना, उसे 'छविच्छेद' कहते हैं। सुपारी, नारियल आदि भार को पशु के कन्धे, पीठ आदि पर शक्ति से ज्यादा भरना, उसे 'अतिभार' कहते

है। भत्त यानी भोजन आदि खान की चीज और पाण यानी पानी आदि तृषा मिटाने की वस्तु उसका विच्छेद कर देना अर्थात् भात पानी न देना उसे 'भत्तपाणविच्छेद' नामक अतिचार कहते हैं।

१—बन्धन

पहला 'बंध' नामक अतिचार आया है। बन्ध के दो भेद होते हैं। एक तो दोपद को बांधना और दूसरा चौपद को बांधना। दास-दासी, नौकर—चाकर तथा लड़के लड़की आदि की गिनती दो पद में है और हाथी घोड़ा भैंस, बकरी गाय आदि की चौपद में। ये दो कारणों से बांधे जाते हैं, जैसे अट्ठाय—अनट्ठाय, अर्थ के लिए और अनर्थ के लिए। किसी को बिना मतलब बांधना और उसे कष्ट देना, उसकी कुदरती बाढ़ को रोक देना, यह एक प्रकार की हिंसा है। श्रावक को चाहिए कि इससे बचे।

अट्ठाए अर्थात् अर्थ से बांधना। इसके भी दो भेद हैं, निरपेक्ष और सापेक्ष। निरपेक्ष उसे कहते हैं, जो लापरवाही से बांधा जावे ऐसा बांधा जावे कि वह अपने हाथ पैर भी न हिला सके। ऐसा बांधना श्रावक का धर्म नहीं है। दूसरा बांधना है सापेक्ष। मतलब के लिये करुणा रखकर जो बांधा जावे उसे सापेक्ष कहते हैं। शास्त्र कहता है कि पशु आदि को कमजोर छोड़ कर इस प्रकार न बांधे कि उन्हें दुःख हो। नीचे कमीचे जैसे लाय (अग्निकाय) आदि में जल्दी खोला न जा सके, ऐसा न बांधे।

दोपद दास—दासी पुत्र—पुत्री आदि यदि उद्दण्डता करते हों उनको सुधारने के लिये बांधना, यह सापेक्ष बांधना है। चोर को चोरी करने की सजा यानी चोरों की आदत मिटाने के लिये बांधना

यह भी सापेक्ष है। इसी प्रकार पुत्रादि को पढने के लिये बांधना, यह भी सापेक्ष है।

मैं कई बार कह चुका हूँ, कि यह धर्म राजाओं के मुकुट पर रहने वाला है। राजा इस धर्म को धारण कर सकता है। जो राजा इस धर्म को धारण करे और अपने फर्ज के अनुसार प्रजा के कल्याण के लिये अन्यायियों को दण्ड दे, चोरों को बाँधे और मौका आ पड़े तो जुल्मी को सजा भी देता है। गुस्से में आकर नहीं, पर न्याय से अभियुक्त की पूरी जाँच कर यदि यथार्थ में दोषी हो और उसके जीने से प्रजा को महान् कष्ट पहुँचने की अथवा शान्ति भंग की पूरी सम्भावना हो तो उसे फांसी की सजा देना, यह भी सापेक्ष में गिना जायगा।

वैसे तो राजा फाँसी की सजा दे सकता है, पर जिन्हे केवल बन्धन की ही सजा दी गई है, उनके भरण पोषण में कभी दुष्टता का परिचय न देना चाहिये। उनकी भूख प्यास तथा अन्य शारीरिक बाधाएँ न रुकें, इसकी तरफ ध्यान देना, राजा का कर्त्तव्य है। इतने दिन तो उसकी जिम्मेवारी उसीके ऊपर थी, पर अब उसके जीवन की जिम्मेवरी राजा पर है। यदि उसे किसी प्रकार का न्याय युक्त कानूनी कष्ट के सिवाय कष्ट भोगना पड़ेगा, तो उसका अपराध राजा के सिर होगा। जो राजा इस बात का ध्यान न रक्खेगा, उसका दोष राजा के ऊपर तो है ही, पर उसका राज्य भी दोषी हो जायगा।

यह बात तो हुई द्रव्यबन्धन की। ऐसा ही भावबन्धन के लिये भी समझ लेना चाहिये। अर्थात् जाति के बन्धन रीति रिवाज ठहराव, कानून, ऐसे न हों, कि बिचारे गरीब कुचल कुचल कर रिबरिब-

कर मर जावें। जिस समाज में अन्याय-युक्त कानूनों का प्रचार न होगा, और जो अभी प्रचलित कितने ही विपरीत कानून हैं, उनको ठुकरा देगा, उस समाज में रामराज्य का सा आनन्द फैल जायगा इसमें कोई सन्देह नहीं है।

२—वध

पहले अतिचार का कुछ विचार हुआ। अब दूसरे अतिचार वध (हनन) पर विचार किया जाता है। इसके दो भेद होते हैं। एक 'अनर्थ' दूसरा 'अर्थ'। रास्ते चलते हुए बिना कसूर किसी मनुष्य या पशु को लकड़े, चाबुक आदि से चोट पहुँचाना, अनर्थ में गिना जाता है। अर्थ 'हनन' के दो भेद हैं। एक सापेक्ष और दूसरा निरपेक्ष। दया रहित होकर मानी अंग उपांग में चोट पहुँच जाने का विचार न कर जो मारपीट की जाती है, उसे निरपेक्ष कहते हैं। और जो सुधार के खयाल से, अपना व्रत भंग न हो जावे-मानों मैं अपने ही शरीर पर मार रहा हूँ, ऐसा खयाल कर के जो दण्ड देता है, वह सापेक्ष है। अथवा पशु आदि को उलटे रास्ते न जाने देने या चलाने के खयाल से जो प्रहार किया जाय वह भी सापेक्ष है।

३—छविच्छेद

तीसरा अतिचार है 'छविच्छेदन'। इसके दो भेद—अर्थ और अनर्थ। बिना प्रयोजन कुतूहलवश किसी मनुष्य या पशु-पक्षी का अंगोपांग छेदना अनर्थ है इसे श्रावक त्यागे। अर्थ के दो भेद—सापेक्ष और निरपेक्ष। करुणा रहित होकर किसी की चमड़ी छेदना निरपेक्ष छविच्छेदन है और करुणा रखते हुए किसी रोग की चीर-फाड़ करना, सापेक्ष छविच्छेदन कहलाता है। ऐसा करते हुए भी

श्रावक अपने व्रत से पतित नहीं होता। इतना ही नहीं किन्तु दुखियों के दुःख मिटाने से करुणा भाव का लाभ भी ले सकता है। हाँ इस समय प्रयोग के लिये निरपराध प्राणी को चीर डालते हैं, वे अवश्य-मेव व्रत के घाती हैं। परन्तु रोगी का रोग मिटाने के लिये जो ऑप-रेशन किया जाता है वह सापेक्ष छविच्छेदन है।

४—अतिभार

अब चौथा अतिचार 'अतिभार' आया। पहली बात तो यह है कि श्रावक को गाडी आदि से अपनी आजीविका चलानी ही नहीं चाहिये। यदि चलानी ही पड़े तो सापेक्ष और निरपेक्ष का ध्यान जरूर रखना चाहिये। बैल तथा घोड़ों आदि के ऊपर इतना बोझ न लाद देना चाहिए, कि विचारों की पीठ, टाँग आदि टूट जाय, या शक्ति से ज्यादा काम लेने से, उन्हें अपनी जीवनलीला ही जल्दी समाप्त करनी पड़े।

कई मनुष्य भी अपने पेट के लिए, बोझ उठाने का काम करते हैं। आप लोगों का कर्त्तव्य है, कि दया कर उनसे शक्ति से ज्यादा काम न लें। उनको उतना बोझ उठाने का अधिकार है, जितना वह अपने हाथ से सुख-पूर्वक उठा और रख सके।

कोई प्रश्न कर सकता है कि यदि कोई आदमी अपनी मर्जी से, शक्ति से ज्यादा बोझ उठाना चाहे तो ? इसका उत्तर यह है कि—यदि वह अपने मन से भी उठाना चाहे तो भी श्रावक को उसे न उठाने देना चाहिये। क्योंकि इस प्रकार बोझा उठाने से, उसकी जिन्दगी जल्दी खतम हो जाती है, ऐसा पुस्तकों के अन्दर पढने में आया है। ऐसा करने से एक दोष और भी है और वह यह, कि करुणा का भाव नष्ट हो जाता है।

मनुष्य, बैल, घोड़ों आदि के ऊपर ज्यादा न लादना चाहिये यह बात तो आप समझ ही गये। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिये कि असमय में लड़के-लड़कियों का विवाह करना भी उन पर अनुचित बोझा डालना है। बेमेल के साथ विवाह कर देना, यह भी अनुचित बोझा है। प्रजा के हित को सामने न रख कर, जो कानून (अन्याययुक्त) उनके द्वारा जबरदस्ती पलवाये जाते हैं, वह भी एक प्रकार का बोझ है। अतएव इन कामों को श्रावक व्रतधारी मनुष्य (राजा आदि भी) कभी न करे।

जिन पशुओं और मनुष्यों को अपने अधीन कर रक्खे हैं, उनको समय पर विश्राम देना, शक्ति से अधिक काम न लेना, इस तरफ से कभी बेभान न होना चाहिये। वर्तमान में मालिकों की तरफ से उपेक्षा बढ़ने तथा अत्यधिक समय तक काम लेने के कारण सरकार को कानून बनाकर रोक करनी पड़ी है। श्रावक को इस विषय में बहुत सावधानी रखनी चाहिये। तभी वह अतिचार से बच सकता है।

५—भक्तपानविच्छेद

पाँचवां अतिचार 'भत्तपाणवोच्छेए' है। इसके भी पूर्ववत् दो भेद हैं। श्रावक को चाहिये कि अनर्थ से निष्कारण हास्य कौतूहलवश किसी को भूखों न मारे। सापेक्ष भूखों मारने में, कोई दोष नहीं गिना गया है।

समाज के अन्दर, अभी ऐसी बेहूदगी फैली हुई है कि वैद्य वगैरह मामूली बात हैं कि इसको रोटी आदि मत देना, तो भी घर वाले

'कुछ तो खाले' कह-कह कर जबरदस्ती खिलाते हैं। रोगी-अवस्था में विचार पूर्वक भूखे रहना, रोग को भूखा रखना है। इसी प्रकार रोग अवस्था में बिना विचार से खाना, रोग को खिलाना है। वैद्य आदि निश्चय कर कहें, कि इस रोग में रोटी आदि देना हानिकर है। ऐसी अवस्था में रोटी न दी जाय, तो यह व्रत का अतिचार नहीं, पर करुणा का काम है। किसी को सुधारने के लिये 'रोटी न दी जायगी' ऐसा भय दिखाना सापेक्ष में गिना गया है। परन्तु निरपेक्षता से ऐसा करना और अपने आश्रित मनुष्य या पशु-पक्षी आदि के खान-पान की सम्भाल न करना, यह भातपाणी विच्छेद नामक अतिचार है।

गर्भवती स्त्री उपवास करके गर्भ को भूखा रखती है, वह भी इसी अतिचार में समाविष्ट है।

हिंसा के कार्य और उनसे बचने का उपाय

मित्रो! हिंसा बुरी है, ऐसा सारा जगत् कहता है, पर इसके सच्चे स्वरूप को समझे बिना, इससे बच नहीं सकते। हिंसा का स्वरूप शास्त्र में निराले-निराले ढङ्ग से बतलाया है। इसका यही मतलब है, कि मनुष्य इसके वास्तविक स्वरूप को पहचान ले। वस्तु के गुण-दोष को अनेक रूप से बतलाने का तात्पर्य केवल यही है, कि यदि वह वस्तु अच्छी हो तो उसके प्रति लोग आदर और बुरी हो तो उसका तिरस्कार करें।

आत्मा, हिंसा कब करता है और दया कब, यह मैं बतलाना चाहता हूँ। आत्मा के दो गुण हैं—शुभ गुण और अशुभ गुण। शुभ गुण मे प्रवृत्त होने से, आत्मा दया करता है और अशुभ में

मनुष्य, बैल, घोड़ों आदि के ऊपर ज्यादा न लादना चाहिये, यह बात तो आप समझ ही गये। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिये कि असमय में लड़के-लड़कियों का विवाह करना भी उन पर अनुचित बोझा डालना है। अनमेल के साथ विवाह कर देना, यह भी अनुचित बोझा है। प्रजा के हित को सामने न रख कर, जो कानून (अन्याययुक्त) उनके द्वारा जबरदस्ती पकड़ाये जाते हैं, यह भी एक प्रकार का बोझ है। अतएव इन कामों को श्रावक व्यापारी मनुष्य (राजा आदि भी) कभी न करे।

जिन पशुओं और मनुष्यों को अपने अधीन कर रक्खे हैं, उनको समय पर विश्राम देना, शक्ति से अधिक काम न लेना, इस तरफ से कभी बेभान न होना चाहिये। वर्तमान में मालिकों की तरफ से उपेक्षा बढ़ने तथा अत्यधिक समय तक काम लेने के कारण सरकार को कानून बनाकर रोक करनी पड़ी है। श्रावक को इस विषय में बहुत सावधानी रखनी चाहिये। तभी वह अतिचार से बच सकता है।

५—भक्तपानविच्छेद

पाँचवाँ अतिचार 'भक्तपानविच्छेद' है। इसके भी पूर्ववत् दो भेद हैं। श्रावक को चाहिये कि अनर्थ से निष्कारण हास्य कौतूहलवश किसी को भूखों न मारे। सापेक्ष भूखों मारने में, दोष दोष नहीं गिना गया है।

समाज के अन्दर, अभी ऐसी बेढंगी फैली हुई है कि वैद्य वगैरह आज्ञा देते हैं कि इसको रोटी आदि मत देना, तो भी घर वाले

सकता, उसे उसको नष्ट करने का क्या अधिकार है ? परन्तु स्वार्थ ऐसी चीज है, कि उसकी ओट में कुछ भी नहीं दिखता। जो अंग उपांग उस प्राणी के लिये उपयोगी है, मनुष्य कहा करते हैं कि यह तो हमारे लिये पैदा किया गया है। ऐसा कहने वालों से सिंह यदि मनुष्य की भाषा में कहे, कि तू मेरे खाने के लिये पैदा किया गया है, तो वह मनुष्य उसे क्या जवाब देगा ?

स्वार्थ के कारण अज्ञानी, मनुष्य अपने अज्ञान से यद्वातद्वा ऐसी हिंसा का समर्थन कर देते हैं, लेकिन ज्ञानी-पुरुष ऐसा कभी नहीं करते। वे सब प्राणियों को सुख का अभिलाषी समझते हैं किसी प्राणी को हिंसा करने का अधिकारी नहीं समझते।

जो दूसरे के हाड़ लेता है, क्या उसके हाड़ बचे रहेंगे ? कभी नष्ट न होंगे ?

'होंगे।'

जो दूसरे के मांस को हरण करेगा, क्या उसके मांस का कभी नाश न होगा ?

'होगा।'

जो दूसरों का चमड़ा उतारता है, क्या उसका चमड़ा नष्ट न होगा ?

'होगा, अवश्य होगा।'

जो प्राणी जिस जीव की हिंसा करता है, उसे उसका बदला अवश्य चुकाना ही पड़ेगा। इसलिये ज्ञानी, कभी हिंसा नहीं करते।

प्रवृत्त होने से हिंसा। हिंसा और अहिंसा आत्मा के परिणाम हैं। इस पर गणधरों ने शास्त्र के अन्दर, बड़ी ही मार्मिकता के साथ चर्चा चलाई है। उनके परिश्रम का लाभ लेना प्रत्येक मनुष्य के लिये हितावह होगा।

शास्त्र में जिस प्रकार एक वस्तु के अनेक भेद बतलाये हैं उसी प्रकार हिंसा के भी कई भेद बतलाये हैं। इसका कारण यही है कि किसी भी प्रकार से लोग हिंसा से बचें। हिंसा के बुरे गुणों को प्रकट करना, हिंसा पर कोई कोप नहीं है यह तो उसके सच्चे स्वरूप को बतलाना है। वस्तु के यथार्थ गुण दोष बतलाना, संसार के कल्याण के लिए बहुत जरूरी है।

शास्त्र यदि, हिंसा अहिंसा का रूप न समझावे तो मनुष्य उससे दूर कैसे रह सकता है? जो मनुष्य सर्प के जाति स्वभाव को नहीं जानता वह उसके डसने से कैसे बच सकता है? जो जहर के गुण को नहीं जानता वह अवश्य ही धोखा खा जाता है। इसी प्रकार जो हिंसा के स्वरूप को नहीं जानता, वह उससे बच नहीं सकता।

हिंसा से बचने वाले प्राणी की आत्मा में अपूर्व जागृति उत्पन्न होती है। हिंसा से बचना दयादान का खास कारण है।

सब प्राणियों ने अपनी अपनी रक्षा के लिये, खाने के लिये, दाढ़ व दाँत, देखने के लिये नेत्र, सुनने के लिये कान सूंघने के लिए नाक, चखने के लिए जीभ आदि, अंग-उपांग अपने पूर्व कर्म के अनुसार प्राप्त किये हैं। इनको छीन लेने का, मनुष्य को कोई अधिकार नहीं है। जो मनुष्य मक्खी के पंख को भी नहीं बना

विशेष रूप से हिंसक मानता है, वह अनजान और भोले लोगो की आँखों में धूल झोंकने का काम करता है। वह इस दलील से हिन्दुओं के प्रति घृणा प्रकट करवाना चाहता है और चाहता है कि इस दलील के सुनने से लोगों पर हमारी छाप पड जायगी और ईसू के चरणों में बहुत से लोग सर झुका देंगे। यह इस पादरी भाई का खयाल बिल्कुल गलत है। उसे समझ लेना चाहिये कि मैं जो दलील पेश करता हूँ, अहिंसा के सच्चे अर्थ या मर्म जानने वाले के सामने कपूर की तरह उड़ जायगी।

सोचिये, कि यदि गेहूँ खेती से पैदा होते हैं, तो क्या बकरा आसमान से टपक पड़ा है?

'नहीं।'

उसका जन्म रज और वीर्य के मिश्रण से, किसी बकरी के गर्भ से हुआ है। गेहूँ आदि की बुनियाद आब्री और बकरे की बुनियाद पेशाबी है। गेहूँ, अव्यक्त चेतना वाला जीव है और बकरा स्पष्ट जग-जाहिर जीव है। गेहूँ पैदा करने वाले की नीयत किसी को मारने की नहीं होती है। कुदरत के कानून से मर जाँय, यह दूसरी बात है। जिन गेहूं आदि नाज मे ज्यादा पाप बतलाते हैं, उन्हीं गेहूँ के दाने तथा जल, सब्जी आदि से बकरे का पालन होता है। बकरे को मारने वाले के परिणाम, प्रत्यक्ष क्रूर और घातकी होते हैं, परन्तु गेहूँ पीसने वाले के वैसे नहीं होते। गेहूँ आदि अनाज, दूसरी खुराक न होने से विवश हो, प्राण-रक्षा के लिये खाते हैं। परन्तु बकरे की तो अन्न मौजूद होते हुये भी, मास खाने वाले शैतानी विचार रखने वाले और स्वाद के लोलुप मनुष्य, अस्वाभाविक रीति से हिंसा कर डालते हैं। बकरे की अनाज के दानों से विवेक-पूर्वक

जो अज्ञान से हिंसा करते हैं उसे योग्य उपदेश देकर वे छुड़ाने का प्रयत्न करते हैं।

पहले आप लोग आत्मा के स्वरूप को ठीक तौर से समझो। समझने के बाद ही आप कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान प्राप्त कर सकोगे। कर्त्तव्याकर्त्तव्य के ज्ञान के बिना भक्ष्याभक्ष्य का भी कैसे ख्याल रह सकता है ?

(कई भाई कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान न होने से ही अभक्ष्य जैसे मांस और अपेय, जैसे शराब आदि का उपयोग करते हैं। बीड़ी, सिगरेट, चुरट, भी इसी कर्त्तव्याकर्त्तव्य के अज्ञान से लोग काम में, लाते हैं। मांस और शराब आदि खाने पीने में पाप तो है ही, पर साथ में यह अस्वाभाविक भी है।)

मैंने एक पादरी की लिखी पुस्तक में पढ़ा था कि हिन्दू लोगों से हम (ईसाई) विशेष दया रखने वाले हैं। हिन्दू शास्त्रों के अनुसार, गेहूं आदि पदार्थों में बहुत जीव हैं। हिन्दू लोग गेहूँओं को पीसकर खाते हैं इसमें कितनी हिंसा होती है ? एक बात और भी है। जब गेहूँ आदि की खेती की जाती है तब भी पानी के मिट्टी के और न जाने कौन २ से हजारों जीवों की हत्या होती है, तब कहीं जाकर वे (हिन्दू) अपना पेट भरने में समर्थ होते हैं। इस पर भी वे अपने को अहिंसक मानते हैं। हम (ईसाई) लोग सिर्फ एक बकरे को मारते हैं इसमें एक से भी अधिक का पेट भर जाता है। इसलिए हिंसा बहुत कम होती है।

पादरी ने अपनी पुस्तक में जो इस प्रकार लिखा है, इसका उत्तर यह है कि—आ पादरी अपने को कम, और हिन्दुओं को

विशेष रूप से हिंसक मानता है, वह अनजान और भोले लोगो की आँखों में धूल झोंकने का काम करता है। वह इस दलील से हिन्दुओं के प्रति घृणा प्रकट करवाना चाहता है और चाहता है कि इस दलील के सुनने से लोगों पर हमारी छाप पड जायगी और ईसू के चरणों में बहुत से लोग सर झुका देंगे। यह इस पादरी भाई का खयाल बिल्कुल गलत है। उसे समझ लेना चाहिये कि मैं जो दलील पेश करता हूँ, अहिंसा के सच्चे अर्थ या मर्म जानने वाले के सामने कपूर की तरह उड़ जायगी।

सोचिये, कि यदि गेहूँ खेती से पैदा होते हैं, तो क्या बकरा आसमान से टपक पड़ा है?

'नहीं।'

उसका जन्म रज और वीर्य के मिश्रण से, किसी बकरी के गर्भ से हुआ है। गेहूँ आदि की बुनियाद आबी और बकरे की बुनियाद पेशाबी है। गेहूँ, अव्यक्त चेतना वाला जीव है और बकरा स्पष्ट जग-जाहिर जीव है। गेहूँ पैदा करने वाले की नीयत किसी को मारने की नहीं होती है। कुदरत के कानून से मर जाँय, यह दूसरी बात है। जिन गेहूं आदि नाज में ज्यादा पाप बतलाते हैं, उन्हीं गेहूँ के दाने तथा जल, सब्जी आदि से बकरे का पालन होता है। बकरे को मारने वाले के परिणाम, प्रत्यक्ष क्रूर और घातकी होते हैं, परन्तु गेहूँ पीसने वाले के वैसे नहीं होते। गेहूँ आदि अनाज, दूसरी खुराक न होने से विवश हो, प्राण-रक्षा के लिये खाते हैं। परन्तु बकरे की तो अन्न मौजूद होते हुये भी, मास खाने वाले शैतानी विचार रखने वाले और स्वाद के लोलुप मनुष्य, अस्वाभाविक रीति से हिंसा कर डालते हैं। बकरे की अनाज के दानों से विवेक-पूर्वक

तुलना न करना यह पादरी साहब की अज्ञानता के अतिरिक्त और क्या है ?

एक बड़ी बात इसमें और भी रही हुई है। क्या धान आदि के द्वारा पेट भरने वाले का उतना क्रूर स्वभाव हो सकता है, जितना मांस खाने वाले का होता है ? यदि नहीं, तो फिर मांस खाने के गुण और धान खाने वाले के अवगुण कैसे गाये जाते हैं कुछ समझ में नहीं आता।

मैंने ऊपर कहा था कि मांस खाने में पाप तो है ही, पर यह मनुष्य के लिये अस्वाभाविक भी है। यदि स्वाभाविक हो, तो बिना शराब व मांस के एक मनुष्य भी नहीं जी सकता था। स्वाभाविक उसे कहते हैं, जिसके बिना जीवन- निर्वाह ही न हो सके। जैसे पानी के बिना प्राणी नहीं जी सकता। पर हम देखते हैं कि शराब के बिना आज करोड़ों की संख्या में जी रहे हैं। ऐसे ही मांस खाये बिना भी करोड़ों मनुष्य जीवित दिखाई देते हैं।

शराब के कारण, कई राजाओं का खून हुआ है और कई शराबियों ने शराब के नशे में अपनी मां बहिनों के साथ कुकृत्य किया है ऐसा सुनने में आया है। सच बात तो यह है, कि शराब पीने पर दिल पर ऐसा नीच असर होता है कि भले-बुरे का कुछ भी ध्यान नहीं रहता। यही क्यों आप ब्रुन्ड को ही लीजिये। एक अंग्रेज को ब्रुन्ड पीने का बड़ा शौक था। एक दिन उसे ब्रुन्ड के जोर से खूब नशा चढ़ आया। उसकी औरत सोई हुई थी छुरे से उसे मारना चाहा—पर थोड़ी देर में नशा उतर जाने के बाद इस नीच विचार को वह धिक्कार देने लगा। थोड़ी देर पीछे उसने फिर ब्रुन्ड पिया। इस बार उसने अपनी स्त्री को छुरे से मारने का

कुकृत्य कर ही डाला। चुरुट पीने से जब इतना पतन हो जाता है, तब शराब से कितना होता होगा ? इसका विचार आप ही कीजिये। शराब पीने वालों के हाथ से हजारों खून हुये हैं।

जिस अमेरिका को आप अनार्य देश कहते हैं, वहाँ वालो ने शराब का बहिष्कार कर दिया है। पर आपके आर्य देश में इसकी दिन-ब दिन बढ़ती हो रही है, इसका क्या कारण है ?

शराब और मांस का ओसवाल जाति ने त्याग किया है, पर सुनते हैं—कई कौम के दुश्मन, ओसवाल नाम धरा कर छुपी रीति से इसका उपयोग करते हैं। जाति वालों की तरफ से इस कृत्य की रोक का जैसा प्रबन्ध होना चाहिये वैसा नहीं होता।

शराब और मांस ने, कई दैवी-प्रकृति वालों को राक्षसी-प्रकृति वाले बना दिये हैं और उनके सुखमय जीवन को दुःख में परिणत कर दिया है। जिस घर में शराब पीने का रिवाज है, जरा उस घर की दशा तो देखिये। स्त्रियाँ बच्चे टुकड़े २ के लिये हाय-हाय करते हैं, पर वह शराब का शौकीन शराब के नशे में झूमता है। उसके धन का, शक्ति का और समय का नाश होता है, जिसका उसे कुछ भी पता नहीं।

मांस खाना अस्वाभाविक है, यह मैं पहले कह चुका हूँ। मांस खाना अच्छा है या बुरा, इसकी परीक्षा पाश्चात्य देश में १०००० विद्यार्थियों पर की गई थी। पाँच हजार विद्यार्थियों को केवल शाकाहार फल-फूल अन्न आदि पर और पाँच हजार विद्यार्थियों को मांसाहार पर रक्खा। ६ महीने बाद जाँच करने पर मालूम हुआ कि जो विद्यार्थी मांसाहार पर रक्खे गये थे, उनकी

फलस्वरूप शाकाहार वाले सब बातों में ऊँचे रहे। शाकाहारियों में दया, क्षमा, वीरता आदि गुण प्रकट हुये और मांसाहारियों में क्रोध, क्रूरता, भीरुता आदि। मांसाहारियों से शाकाहारियों में बल विशेष पाया गया। इनका मानसिक विकास भी अच्छा हुआ। इस फल को देख कर वहाँ के लाखों मनुष्यों ने मांस खाना सदैव के लिए छोड़ दिया।

गांधी जी, जिस समय विलायत के एक शहर में एक भारतीय साहब के घर निमन्त्रित हुये तो वहाँ क्या देखते हैं कि १७ यूरोपियन शाकाहारी थे और केवल २ भारतीय शाकाहारी थे। यद्यपि कुल भारतीयों की संख्या, यूरोपियनों से किसी प्रकार कम न थी।

मांसाहार, मनुष्यों के लिए स्वाभाविक है या अस्वाभाविक, इसकी जो जाँच हुई उसका नतीजा आपने सुना। एक और भी जाँच है। यह जाँच पशुओं पर ही होती है, क्योंकि मनुष्यों ने अपनी बुद्धि का विकास किया है इसलिए इसने अस्वाभाविक को भी स्वाभाविक मान लिया है। कई वकील लोग बेईमानी को जितना सच्चा रूप दे सकते हैं उतना भोला-भाला मनुष्य नहीं दे सकता। पशु-पक्षी पढ़े हुए नहीं हैं इसलिए प्रकृति के कानूनों को तोड़ने की हिम्मत इनमें नहीं है। प्रकृति के कानूनों की परीक्षा इन पर बड़ी अच्छी रीति से हो सकती है।

पशुओं में दो पार्टियाँ हैं। एक मांसाहारी पार्टी और दूसरी शाकाहारी (घास पार्टी)। मांसाहारी पशुओं के नाखून पैने होते हैं। जैसे—कुत्ता बिल्ली सिंह आदि के। और घास पार्टी वाले पशुओं के पैने नहीं होते। जैसे—हाथी, गाय भैंस ऊँट आदि के। घास पार्टी वाले पशु मनुष्यों के मित्र-रूप हैं। वे घास खाकर दूध

देते हैं, पर कुत्ता मांस-भक्षी होने से रोटी भी खाता है और काटने से भी नहीं चूकता। मतलब यह है कि घास पार्टी वाले, शान्त होते हैं और मास-पार्टी वाले क्रूर।

खाने-पीने का असर शरीर और मन पर जरूर पड़ता है। यह बात गीता से भी सिद्ध है। उसमें १७ वें अध्याय में सात्विक राजस और तामस भोजन का विशद वर्णन किया गया है।

अच्छा, अब मैं मासाहारियों की दूसरी पहचान बतलाता हूँ। मासहारी पशुओं के जबड़े लम्बे होते हैं और घास पार्टी वालों के गोल। गाय और कुत्ते के जबड़े देखने से यह भेद साफ मालूम होगा।

मांसाहारियों की तीसरी परीक्षा यह है कि वे जीभ से चप-चप कर पानी पीते हैं और शाकाहारी ओंठ टेक कर। गाय, भैंस, बन्दर तथा सिंह, कुत्ता, बिल्ली आदि के देखने से यह भेद मालूम हो जायगा।

ऊपर की परीक्षा की कसौटी पर कसने से, निर्विरोध सिद्ध हो जाता है, कि मनुष्य प्राणी मांसाहारी नहीं है। कई विद्वान् डाक्टरों ने भी यह सिद्ध कर बतलाया है कि घास खाने वाले, मांस खाने वाले और अन्न खाने वाले प्राणियों की आँतें एकसी नहीं होती! बन्दर के शरीर में, मास को पचाने वाली आँतें नहीं हैं, इसलिए वह कभी मांस नहीं खाता, फल चट उठाकर खा जाता है। जरा विचार कीजिये कि जो मनुष्य की शक्ल का प्राणी (बन्दर) है, वह तो मांस नहीं खाता, पर मनुष्य कहलाने वाला मास खाता है!!

जरा पक्षियों की तरफ देखिये। आपने कबूतर को कभी कीड़ा खाते देखा है?

'नहीं।'

और कीए को ?

'हाँ।'

क्या आप जानते हैं कि कबूतर और कौए का यह पाठ किसने पढ़ाया ?

'प्रकृति ने।'

आपने कभी तोते को मांस खाते देखा है ?

'नहीं।'

वह आपकी भाषा सिखाने से सीख सकता है। वह मनुष्य की भाषा सीखे—वह तो मांस नहीं खाता, पर जिसकी अपनी भाषा है, वह मनुष्य मांस खाय, यह कितनी लज्जा की बात है ?

अरे मनुष्य ! तू तकदीर लेकर आया है। जरा तकदीर पर भरोसा रख और प्रकृति के कानून को मत तोड़। क्या मांस न खाने वाले भूखों मरते हैं ?

हम देखते हैं कि जितने मांसाहारी भूखों मरते हैं, उतने शाकाहारी भूखों नहीं मरते। व्यवहार दृष्टि से शाकाहारी हर प्रकार से प्रकृति से सुखी और मांसाहारी दुःखी दिखाई देते हैं।

मुझे विश्वास है कि बहुत से उच्चकोटि के मनुष्य मांस का सेवन नहीं करते। ऊपर जो विवेचन किया गया है, वह इसलिये कि लोग मांस के गुण-दोष को अच्छी तरह समझ जाँय और उसके सेवन करने वाले भाइयों को उचित मार्ग दिखा सकें।

यद्यपि आप मांस-सेवी नहीं हैं, तथापि अहिंसावादी और 'अहिंसा परमो धर्मः' के अन्दर विश्वास रखने वाले को कहा जाता है कि त्रस जीव की हिंसा के द्वारा होने वाले किसी भी काम में

प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सहायता देना उचित नहीं है । मैं चाहता हूँ कि जिन चीजों के लिए त्रस जीवों की हिंसा होती है, उनको भी आप पाप-पूर्ण समझ कर त्याग दें ।

विदेशी शक्कर आदि

कई चीजें, आज बाजारों में ऐसी बिकती दिखाई देती हैं, जो ऊपर से चमकती हुई सुन्दर और साफ हैं पर उनकी बनावट में महाहिंसा तथा घृणित वस्तुओं का उपयोग किया जाता है। आपने विलायती शक्कर देखी होगी। सुना जाता है कि कई भाई आज कल मिठाई बनाने में इसका खूब उपयोग करते हैं। उनका कहना है कि उसमें मैल कम होता है और देशी शक्कर की बनिस्पत कुछ सस्ती भी मिलती है। हाय हाय ! जो भाई एक चींटी के मारने में पाप समझते हैं, वे ही अज्ञान से कुछ लाभ के लिये धर्म तथा देश को पतन के गहरे गड्ढ़र में डाल देते हैं । माना कि यह दीखने में साफ और कीमत में सस्ती है, पर क्या आपने कभी इस पर विचार किया है कि यह कैसे घृणित प्रकार से बनाई जाती है × तथा इसके खाने से शरीर को क्या हानि है ?

भारत में जो शक्कर बनाई जाती है, उसके लिए भी आरम्भ होता है, पर विदेश जितना घोर पाप नहीं । भारत में बनाई जाने वाली शक्कर में, एकेन्द्रिय आदि प्राणियों की हिंसा होती है पर पचेन्द्रियों—गौ आदि—जिन्हें आप माता के नाम से पुकारते हैं—की नहीं ।

× (१) *'एनसाइक्लो पीडिया ब्रिटानिका' नाम का एक बहुत वर्षों की शोध के बाद तैयार हुआ ग्रन्थ है, जिसके आधार पर सरकार फैसला करती है । उसके ६६७ वें पृष्ट पर लिखा है कि—'शक्कर साफ*

हमारी राय में तो शक्कर देशी हो या विदेशी, न खाना ही अधिक लाभकर है। क्योंकि ज्यादा शक्कर खाने से शरीर में रोगों की उत्पत्ति होती है और ब्रह्मचर्य आदि की रक्षा में बाधा पहुँचती है। जिससे शक्कर के बिना न रहा जाता हो उसे कम से कम इतना तो चाहिए कि विलायती भ्रष्ट शक्कर का उपयोग न करे।

करते समय हरेक जानवर का रक्त (खून) तथा हड्डियों के कोयले का चूरा डाला जाता है।"

(२) 'डिक्सनरी ऑफ आर्टस' छठी आवृत्ति लन्दन पृष्ठ ८२६ में लिखा है कि—'गाँगड़े बनाये जाते हैं, उस समय ५४ मन शक्कर में २७ मन हड्डियों के कोयले का चूरा डाला जाता है।

(३) स्वामी भास्करानन्द लिखते हैं—कि "जब मैं विलायत गया, तब मैंने कितने ही शक्कर बनाने के कारखाने देखे। उनके पहले लवर (मंजिल) में पहुँचते ही मुझे उल्टी होगी, ऐसा मालूम हुआ। मैं नहीं जानता था कि ऐसी अपवित्र चीजों से शक्कर बनती है। पर नजरों से देखने पर सखेद आश्चर्य होता है कि जिन चीजों के स्पर्श से भी महान् पाप लगता है, उन्हें ही हिन्दू लोग किस प्रकार खाते हैं!"

(४) भारतमित्र' ता० २८-१०-१९५० के अङ्क में लिखा है—'अच्छी शक्कर बनाने के लिये जिस प्रकार इस देश में दूध काम में आता है उसी प्रकार वहां (विलायत में) जानवरों के लोहू से शक्कर (सांड) का मैल छांटा जाता है। कारण, कसाईखानों में दूध के बनिस्पत लोहू सस्ता मिलता है।"

(५) मि. हेरिस कहते हैं—'सांड' सूअर के लोहू से साफ की जाती है।

शक्कर जिन्दगी भर न खाई जाय तो कोई क्षति नहीं होती परन्तु रोटी के बिना काम नहीं चल सकता। तब बतलाइये, प्राकृतिक, यानी शरीर को लाभ पहुँचाने वाली, इन दोनों चीजों में से कौन हुई ?

बादशाह अकबर जैसे मुगल के राज्य में ३ से ४ रु० मन तक घी मिलता था। एक रु० का सात सेर घी मिलने की बात तो आज भी आप अपने बूढ़े बड़ेरो से पूछ सकते है। उस समय के लोग आज की तरह चाय की महमानी नहीं करते थे। उस समय हिन्दुस्तान में आज की तरह चाय का प्रचार नहीं था। सुना है कि यहाँ चाय का विशेष प्रचार लार्ड कर्जन के जमाने से हुआ है। चाय शरीर के लिये नुकसान कारक और बड़ी ही अपवित्र वस्तु है। चाय, अनेक गरीब लोगों की अश्रुधारा से सींची जाती है। यह आपको अभी मालूम नहीं पड सकता, पर जब इस पर विशेष विचार करने का मौका होगा, तब आपको मालूम पड़ेगा कि किस प्रकार बहनों और बच्चों की हाय-हाय और त्राहि-त्राहि से यह चाय बढाई जाती है। किस प्रकार गरीबों का पसीना और खून एक होता है। ये भाई-बहन और बच्चे और कोई नहीं, आपके भारतीय ही हैं। इन बेचारों को चाय के खेतों में निर्दय अंग्रेज व्यापारियों के द्वारा सदैव मार सहनी पड़ती है। क्या ऐसी पापमय चाय का पान करना आप ठीक समझेंगे ? चाय की वजह से आज हिन्दुस्तान में खांड की ज्यादा मांग बढ गई है। लोग यदि इस नुकसान कारक चाय को छोड दें तो विश्वास है कि आपको विदेशी अपवित्र खांड मंगानी ही न पड़े।

पहले के लोग, खांड के ज्यादा शौकीन नहीं थे। खांड की मिठाइयाँ भी इतनी नहीं बनती थीं। लोग ज्यादातर गुड़ की 'लापसी'

से ही अपना काम निकालते थे। भारत के लोगों में ज्यों ज्यों ऐश आरामी की वृत्ति बढ़ती गई, त्यों त्यों हरेक विलायती चीजों को ही पसन्द करने लगा। पहले के लोगों का सिद्धान्त था—'मोटा खाना, मोटा पहनना।' पर आज 'पतला खाना और पतला पहिनना' हो गया है! कहां है वह बच्चों की सुन्दर हास्यमयी माधुरी और कहाँ है वह जवानों का जोश?

आपका यह ऐश-आराम बड़ा खतरनाक है। यह न केवल इहलोक में, पर परलोक में भी दुःख देने वाला है। इहलोक में तो यों है कि इसके प्रताप से आप दिन-दिन शक्तिहीन हो रहे हैं और शौक की चीजें करीब २ तमाम ही विदेश से आने से दरिद्री भी। और परलोक में यों कि शौक करने की जितनी भी चीजें आज दिखाई देती हैं, वे प्रायः महापाप से बनती हैं।

✓ शौक की चीजों में सबसे पहला नम्बर कपड़े का है। आज कल* बहुत-सा कपड़ा विलायत से आता है कि वह दीखने में बड़ा चटकीला-भड़कीला और सुन्दर होता है, पर कई विद्वान् अंग्रेजों ने अपनी पुस्तकों में लिखा है कि इसके बनाने में चर्बी आदि काम में लाई जाती है। सुना गया है कि चर्बी योग्य प्रमाण में सीधी न मिल सकने के कारण कसाईखानों में सैकड़ों मूक गरीब प्राणियों का बेरहमी के साथ नित्य कत्ल होता है। यह कत्ल केवल आप लोगों के लिए चल रहा है। यदि आप अपनी मौज-शौक कम कर दें, तो यह होने वाला भयंकर हत्याकाण्ड शीघ्र कम हो सकता है।

मेरा यह कथन न केवल विदेशी वस्त्रों की ही तरफ है, पर उन वस्त्रों की तरफ भी समझिये जो भारत की मिलों में तैयार होते हुये भी चर्बी आदि से बचे हुये नहीं हैं।

---

*जिस समय यह पुस्तक लिखी गई, उस समय आता था।

जरा विचार तो कीजिये कि आप किसकी सन्तान हैं ? आप उन वीर क्षत्रियों की सन्तान हैं, जिन्होंने दूसरों की रक्षा के लिये अपने शरीर का मांस काट कर दे दिया था। पर उस शरणागत का एक बाल भी बांका न होने दिया। आप लोग उस वीर का नाम जानते हैं ? उस वीर का नाम था—राजा मेघरथ।

एक दिन की बात है, राजा मेघरथ अपने धर्मस्थान में बैठा हुआ था। एक 'भयभ्रान्त' कबूतर उड़ता हुआ उनकी गोद में आ गिरा। बोला—'राजन् ! मैं आपकी शरण हूँ, मेरी रक्षा कीजिये।' राजा ने आश्वासन देते हुए कहा—'तुम जरा भी मत डरो, मैं तुम्हारी हर प्रकार रक्षा करूगा।'

इतने में एक शिकारी (पारधी) दौड़ता हुआ आया। वह लंगोट पहिने हुए था। उसका शरीर काला, ओंठ मोटे, केश बिखरे हुए और आंखें लाल थीं। वह बोला—'राजा, मेरा शिकार दे।' राजा ने शान्ति से कहा—'भाई, मैं इसे नहीं दे सकता। यह मेरी शरण में आगया है।'

शिकारी—'बस बस मेरा शिकार फेंक दो ! नहीं तो ठीक न होगा।'

आजकल के सरीखा कोई राजा होता तो उसे धक्के देकर उसी वक्त निकलवा देता, पर मेघरथ राजा ऐसा न था। वह दुष्टों पर भी दया करने वाला और क्रूरों को भी सुधारने वाला था। राजा ने उससे पूछा—'भाई ! इसका क्या करोगे ?'

शिकारी—'क्या करूंगा ? अपना दुःख मिटाऊंगा, मुझे भूख लग रही है।

राजा—भूख लग रही है, तो तुम्हें खाने को देता हूँ, चाहे सो ले ले।'

शिकारी—'क्या तू मुझे धर्म का देना चाहता है ? मैं धर्म का नहीं लेता, मैं अपने उद्योग से अपना पेट भरता हूँ।

राजा—'बहुत अच्छा, सशक्त गृहस्थ को भीख तो लेनी ही नहीं चाहिये मैं तुम्हें भीख नहीं देता पर चीज लेकर चीज देता हूँ। मुझे यह कबूतर पसन्द आगया मैं इसके बदले में तू मांगे सो देने को तैयार हूँ।

शिकारी—'ऐसा ? अच्छा, जो मैं माँगूगा वह देगा ?

राजा—बराबर।'

शिकारी—'देखना, अपनी जबान से फिर मत जाना मैं ऐसी-वैसी चीज मांगने वाला नहीं हूँ, या मुझे अपना शिकार दे दे।'

राजा—'कबूतर को छोड़कर, चाहे सो मांग ले, सब कुछ देने को तैयार हूँ।'

शिकारी—'अच्छा तो मुझे इस कबूतर के बराबर अपने शरीर का मांस दे दे।

मित्रो ! राजा मेघरथ, अपने शरीर को नाशवान् समझकर इस बात को कबूल करता है और अपने शरीर का मांस काटकर दे देता है।

कई जगह इस कथा में आये हुए पारधी के स्थान पर बाज का भी वर्णन पाया जाता है।

जिनके पूर्वज एक मक्खी की रक्षा के लिये अपने शरीर का मांस काट कर देना कबूल कर लेते हैं, पर मक्खी की हिंसा नहीं होने देते अब उन्हीं की सन्तान, अपने तुच्छ मौज-शौक के लिये

हजारों प्राणियों के नाश को देखकर भी हृदय में दया न लावे, तो उसे क्या कहना चाहिये ?

आपके पूर्वज, बिना चर्बी का, देश का बना हुआ कपड़ा पहनते थे, जिसे आज के लोग, 'खादी' के नाम से पुकारते हैं। खादी के उपयोग से न केवल पैसे की ही बचत होती है, पर धर्म भी बचता है। विलायती कपड़ों का जब इस देश में प्रचार नहीं था, तब लाखों मनुष्य इसी धन्धे के द्वारा अपने पेट भर लेते थे। इतिहास कहता है, कि बाद में अंग्रेजों ने उन बिचारे गरीबों के अगूठे कटवा लिये, और अपने देश (विलायत) के वस्त्रों का यहां प्रचार बढ़ा दिया। मिल भी यहां आगये। इन मिलों से देश के मनुष्यों की कम क्षति नहीं हुई। सैंकड़ों मनुष्यों की रोटी पर, कुछ मनुष्य ही हाथ साफ करने लगे और बाकी के भूखों मरने लगे। देश का सौभाग्य समझिये, कि देश के कई हितैषियों और नेताओं ने इस भयकर अत्याचार को पहचाना और चर्खे का पुनर्निर्माण किया। चर्खे के द्वारा, आज फिर से सैंकड़ों भाई-बहनों को रोटी हाथ आने लग गई है। जो भाई खादी का उपयोग करता है, वह गुप्त रीति से इन गरीब भाई-बहनों को मदद पहुंचाकर पुण्योपार्जन करता है, ऐसा आज के नेता स्पष्ट समझाते हैं। उनका कथन है, कि खादी सादी और देश की आजादी है।

जो देश वस्त्र और रोटी के लिए दूसरे का मुंह नहीं ताकता, वह कभी पराधीन नहीं हो सकता, जो इन दो बातों के लिये दूसरों की तरफ देखता है, वह गुलाम बने बिना नहीं रह सकता। यह देश वस्त्र से तो गुलाम बन ही चुका, अब रोटी के लिये भी दूसरे के पास हाथ पसारने लग गया है। रोटी से, आप अपने घर की जैसी रोटी की ही बात मत समझ लेना। रोटी से, यहां खान-पान की चीजों

उनकी पुतलियां देख कर उस समय किसका हृदय करुणा से न उभरेगा ? कौन उस वीभत्स-दृश्य को देख रोमांचित न होगा ? और कौन कठोर हृदय उस अवसर पर रो पड़ेगा ? क्या मौज-शौक के तुच्छ सुख के लिये ऐसे भयानक हत्याकांड का भागी बनना योग्य है ? यदि नहीं तो आप सिर्फ बूट ही नहीं, पर ऐसे भयानक हत्याकाण्ड जिस वस्तु के बनाने के लिये किये जाते हों, उन सब का त्याग कर दीजिये।

क्या आप जानते हैं कि दया-देवी का मन्दिर कहाँ है ? दया-माता यदि हृदय में होती, तो आपको दया के उपदेश देने की जरूरत ही न पडती। हृदय में दया हो, तो ऐसी हालत में 'दया-दया' पुकारने की जरूरत पड सकती है ?

'नहीं।'

जिसके शरीर में चैतन्य है, उसे फिर कोई जलायगा ?

'नहीं।'

क्या चैतन्य छिपा रह सकता है ?

'नहीं।'

जिस प्रकार आप लोग धर्म की स्थूल-क्रिया करने के लिये यहाँ आये हो, उसी प्रकार दया का भी स्थूल-रूप बाहर दिखलाइये, तब मालूम पड़े कि आप में दया है।

'दया' शब्द दय-रक्षणे धातु से बना है। इसका अर्थ दूसरों पर अनुकम्पा (करुणा) लाना है।

आप को दया कहाँ करनी चाहिये ? क्या केवल मेरे पास आकर ? नहीं मेरे पास तो आप करते ही हैं। दया का उपयोग वहाँ कीजिये, जहाँ बेकसूर हजारों मूक प्राणी छुरी के घाट उतार

दिये जाते हैं उनके गले पर खटाखट भम्भर चला दिया जाता है, उन बेचारों के खून का छोटा सा नाला बह निकलता है। किसी को दयाहीनता का पूरा दृश्य देखना हो तो जहाँ दया पैदा होती है, उस कसाईखाने के समान दुःख और कहाँ दिखेगा ?

यूरोपियन सज्जन टाल्सटाय, एक बड़े विद्वान् और विचार शील पुरुष माने गये हैं। वे कोरे विद्वान् ही नहीं थे पर उन्होंने अपना जीवन को इतना उच्च बना लिया था, कि एक आदर्श पुरुष भी माने जाते हैं। उनका जीवन एक मंदिर था। उनके जीवन का एक एक दिन ऐसा बीतता था, कि उसकी छाप दूसरे मनुष्य पर पड़े बिना न रहती थी। इनका इतना धर्ममय जीवन कसाईखाने को देख कर ही हुआ था। कहा जाता है कि वे हमेशा कसाईखाने में पशुवध देखने जाते। वहाँ पशुओं के ऊपर छुरी चलने पर, उनकी तड़फड़ाहट देखकर रोमांचित हो जाते, घबरा जाते और विचार करते कि हाय ! यदि इसी प्रकार यह छुरी हमारे ऊपर चले, तो हमें कितना दुःख हो ? हम कितने छटपटायें ? ये बिचारे मूक प्राणी स्वतन्त्र नहीं हैं इन परतन्त्रता की जंजीरों से जकड़े हुओं को छुड़ाने वाला कौन है ? वे बिचारे परतन्त्र हैं, पर मारने वाला भी कौनसा स्वतन्त्र है ? वह भी परतन्त्र है। यदि परतन्त्र न होता तो उसे यह पापमय काम ही क्यों करना पड़ता ? किसके परतन्त्र है, इसको किसने गुलाम बना रक्खा है ? उत्तर मिलता है—तृष्णा लोभ मोह और अज्ञान आदि का यह दास है। वह मोह से दासानुदास मनुष्य उसके प्राण लेकर अपना काम बनाना चाहता है। वह उनका मांस खाकर अपना मांस बढ़ाना चाहता है उसको मारकर अपना पोषण करना चाहता है। उसके प्राणों की इसे तनिक भी परवा नहीं। उसके दुःख से कुछ भी करुणा नहीं आती। पर इसे विचारना चाहिये, कि यदि ऐसा ही समय मेरे लिये आयगा तो मेरा क्या हाल होगा ?

मनुष्य उस प्राणी को किस कसूर से मारता है ? किस गुन्हें से वह मारा जाता है ? क्या उसने गाली दी है क्या उसने कुछ हरण किया ? ये वेचारे तमाम भद्र प्राणी हैं। इनमें से बहुत से तो घास खाकर तुम्हारा रक्षण कर रहे हैं। ये प्रकृति की शोभा बढ़ाने वाले हैं। इन को मार कर, लोग अपना काम निकालते हैं तथा खाने में मजा मानते हैं। इन मनुष्यों की मजा में उन विचारों की कजा होती है। इस कजा में मजा मानने वालों का कुछ हिसाब होता है ?

'हां।'

शास्त्र की बात इस समय कुछ न कह कर, पाश्चात्यों का इस विषय पर क्या मत है, वैज्ञानिकों ने इस पर क्या राय जाहिर की है, यह सुनिये। वे कहते हैं कि प्रकृति की वस्तुओं में गति की प्रतिगति और आघात का प्रत्याघात होता ही रहता है। उदाहरण स्वरूप एक पर्वत के पास जाकर आवाज दी गई कि 'तुम्हारा बाप चोर।' तो उससे प्रतिध्वनि निकलेगी—'तुम्हारा बाप चोर।' जैसी ध्वनि की जायगी वैसी ही प्रतिध्वनि निकलेगी। अगर कोई अपने बाप को चोर कहलाना चाहे, तो उसे कहे कि 'तुम्हारा बाप चोर।' यदि न चाहे तो न कहे। जिस प्रकार प्रतिध्वनि में 'तुम्हारा बाप चोर' कहा, इससे तुम्हें दुःख होता है, ऐसा समझकर कभी किसी को कटु शब्द न कहने चाहिए। मंगल से मंगल और अमंगल से अमंगल होता है। गति की प्रगति और आघात का प्रत्याघात होता रहता है। जो पार्ट आज दूसरों से करवाते हो, वही पार्ट कभी तुम्हें भी करना पड़ेगा। साराश यह कि यदि तुम किसी को कष्ट दोगे, तो तुम्हें कष्ट मिलेगा। तुम किसी के प्राण लोगे, तो तुम्हें भी प्राण देने पड़ेंगे। शस्त्र से गर्दन उड़ाओगे, तो वापस गर्दन उड़ेगी। मांस खाओगे, तो अपने शरीर का मांस खिलाना पड़ेगा।

हाँ एक बात जरूर है। जीवन-निर्वाह के लिए प्रकृति की शोभा न बिगड़े, इसको ध्यान में रखकर सरलता से बिना किसी को दुःख दिये अपने निर्वाह का जो आयोजन किया जाता है उसे अधर्म नहीं कह सकते। धर्म किसी का नाश नहीं चाहता। जो मनुष्य नीति से पैसा पैदा करता है, उसे कोई चोर बदमाश कह कर दण्ड नहीं देता है पर जो नीति-अनीति का कुछ भी ख्याल न कर, केवल पैसों से अपनी जेब भरना चाहता है उसे कोई क्या कहेगा ?

'चोर बदमाश आदि।'

उसे दण्ड मिलेगा ?

'अवश्य।'

यही बात अपने निर्वाह—कार्य के लिये समझनी चाहिये। जो अपनी मौज-शौक के खातिर में आकर मूक प्राणियों का वध करता है उसे भी दण्ड मिले बिना न रहेगा।

माता के स्तन से बालक दूध पीता है। यह उसका स्वाभाविक धर्म है, पर जो बालक माता के दूध की जगह स्तन का खून पीना चाहता है क्या उसे कोई बालक या पुत्र कहेगा ? लोग उस बालक को, बालक या पुत्र नहीं, पर जहरीला कीड़ा कहेंगे।

यह प्रकृति गौ भैंस, बकरी आदि से दूध दिलाती है। जगत् का इससे बड़ा उपकार होता है, पर लोगों की अधम तासीर इन उपकारी पशुओं का जल्दी खात्मा करके एक-दो दिन पेट भर कर ज्यादा दिन तक पेट भरने वाले भी दूध के स्रोत को बन्द कर रही है। इसका मतलब यह हुआ कि पशुओं को धीरे २ मारते देखकर एकदम नाश के विचार से दूध का मूलोच्छेदन कर दिया गया।

इन बिचारे मूक प्राणियों की वकालत कौन करे ? गजब की,

बात है कि साक्षात् इनकी करुणाभरी चीख को सुन कर भी हत्यारो का दिल पत्थरसा क्यों रहता है ? परतन्त्र हैं इसलिये। उन हत्यारों को काम, क्रोध, मोह आदि ने अपने वश में इस प्रकार कर लिया है कि उन्हे कुछ सूझता ही नहीं !

आप लोगों में से बहुत से भाई निर्मांसहारी हैं। ये अपने मन में सोचते हैं कि मांसाहारी ही पापी होते हैं। हम तो इस पाप से बचे हुये हैं। लोगों को दूसरे की बात की कडी टीका सुनकर मजा आता है, पर जब उनके स्वार्थ के काम की कोई टीका करता है तब उनको अच्छी नहीं लगती। अच्छी लगे या न लगे, सच्चा आदमी तो गुण दोष बतला ही देता है।

जो केवल मांसाहारियों को ही पापी समझता है, उसे चाहिये कि पहले अपने थोकड़े आदि खोल कर देखे कि उसमें कितने प्रकार के पाप बतलाये हैं। क्या उन पापों का करने वाला पापी गिना जावेगा ? जैन-शास्त्र में १८ प्रकार के पाप माने गये हैं। जैसे—झूठ, चोरी, व्यभिचार इत्यादि। जो इन पापों का सेवन करे और धर्मात्मा बनने की डींग मारे, क्या वह वास्तव में धर्मात्मा है ?

'नहीं।'

जैन सिद्धान्त को यदि कोई ठण्डे मस्तिष्क से विचारे, तो पता चलेगा कि यह कैसा पूर्ण है। इसकी आदि से लेकर अन्त तक की तमाम बातें ठीक उतरती हैं। हिसाब करने वाले बहुत मिलेंगे, पर आना पाई तक का हिसाब मिलाने वाले को क्या आप बड़ा बुद्धिमान् न कहेंगे ?

'कहेंगे।'

पाप से बचना चाहिये' 'धर्म करना चाहिये' इस प्रकार बहुत से भाई कहते हैं, पर पापों से बचने का और धर्म करने का बहुत कम भाई विचार करते हैं। कई भाई कसाई को बुरा कहते हैं पाप समझते हैं, पर स्वयं जालसाजी करने से बाज नहीं आते। कपट करने से नहीं चूकते। दूसरे पर दोष मढ़ने में नहीं चूकते। गरीबों के गले दबाने में भय नहीं खाते। झूठे मुकदमे चलाने में शर्म नहीं खाते। बिल्कुल खोटी गवाहियां दिलाने में पैर पीछे नहीं रखते। दूसरे के धन को स्वाहा करने में नहीं हिचकते। पराई स्त्रियों पर खोटी नजर रखने में घृणा नहीं खाते। कहाँ तक कहें ये पाप करते हैं, पर पापी कहलाने में अपनी तौहीन समझते हैं। कसाई छुरी फेर कर कत्ल करता है पर ये कलम को चला कर ही कई घर कइयों की एक साथ हत्या कर डालते हैं। बिचारा कसाई हत्या करके हत्यारा कहलाता है, पर ये कई हत्यायें करके भी धर्मात्मा बने रहते हैं। ये लोग यह नहीं समझते कि जैसे हम फंसाते हैं वैसे हम भी फंसाये जायेंगे। हम मारते हैं पर कभी हम भी मारे जायेंगे। आघात का प्रत्याघात हुये बिना न रहेगा।

शास्त्र कहता है कि एक बार तमाम प्राणियों को अपनी आत्मा के तुल्य देख जाओ, फिर पता लग जायगा कि दूसरों का दुःख कैसा होता है।

आत्मौपम्येन पुरुषः प्रमाणमधिगच्छति ।

आत्मा के तुल्य तमाम प्राणियों को देखने पर, दुःख-सुख की साक्षी तुम्हारा हृदय अपने आप देने लग जायगा। आपको शास्त्रों के देखने की जरूरत न रहेगी, सच्चिदानन्द अपने आप शास्त्र का सार समझ लेगा।

मनुष्य को दूसरे के भले बुरे कामों की मालूम पड जाती है, पर उसमें स्वय मे कैसे कैसे भले बुरे गुण हैं यह बहुतों को मालूम नहीं पडती। उनको तो तभी मालूम पडती है, जब लोग उनके दोषों पर कुछ टीका टिप्पणी करते हैं। जो मनुष्य अपने दुर्गुणों की टीका देखकर उनको सुधारने की कोशिश करता है, वह भी बुद्धिमान् गिना जाता है।

अपनी आत्मा हिंसक को देखकर—शिकारी को देखकर उसे क्रूर, दुष्ट कहती है, पर अपनी आत्मा ने भी अनेक बार जीवों को मारा होगा, उन्हें कष्ट पहुँचाया होगा। इसलिए हे आत्मा! अब तू शिकारी नहीं है, हिंसक नहीं है, यह तू समझ गया हो तो अब अज्ञान के जाल में मत पडना। ऐसी भावना कीजिये। इस भावना से आपकी आत्मा में अजीब शक्ति चमत्कृत होगी और आपको थोडे ही दिनों में, आनन्द का अनुभव होने लगेगा। यह आनन्द थोडे प्रमाण में न मिलेगा पर इतने प्रमाण में मिलेगा कि आप उस आनन्द की भेंट दूसरों को भी कर सकोगे। एक बात जरूर है, और वह यह कि यह भावना स्वार्थ की न हो। इस भावना में मुझे धन मिले, पुत्र मिले, स्वर्ग मिले, मैं इतना वैभवशाली बनूं राजा बन जाऊं, बादशाह बन जाऊं, ऐसी आकाँक्षा न हो। भावना अपने स्वार्थ के लिये न हो, पर ससार की कल्याण कामना की हो। उसमें प्रार्थना की जाय कि—

दयामय, ऐसी मति हो जाय।

त्रिभुवन की कल्याण कामना दिन-दिन बढती जाय॥ टेक॥
औरों के सुख को सुख समझू सुख का करूं उपाय।
अपने सब दुःखों को सहलूं पर-दुःख सहा नहीं जाय॥ १॥

मूखा-मटका उलटी मति का, जो है जन-समुदाय ।
उसे दिखाऊं सच्चा सत्पथ मित्र सबस लगाय ॥ २ ॥

जब आप ऐसी भावना करने लग जायेंगे तब आपके आत्मा में अपूर्व जागृति होगी। आपका सच्चिदानन्द-रूप प्रकट हो जाएगा और मुस्कराते हुए घोषणा करोगे कि—

'मित्ती मे सव्व भूएसु ।' *

अभी तो कई लोग परदेशों से धन कमा लाते हैं और यहाँ (मारवाड़ में) आकर व्यर्थ की बातें किया करते हैं। पर उक्त घोषणा होने पर, क्या आप इस प्रकार निकम्मे बैठे रहेंगे? उस समय आपको एक क्षण का विश्राम लेना भी औचित्य से परे मालूम होगा। उस समय आपके जीवन की वह धारा जो प्रबल वेग से नीच स्वार्थों के गहन गह्वर में पतित हो रही है निःस्वार्थ मन्दाकिनी का रूप धारण कर, धराधाम पर शान्त गम्भीर गति से प्रवाहित होने लग जायगी। आपके जीवन की वह धारा जो अभी ईर्ष्या, क्लेश, दुःख सन्ताप आदि के विषैले पौधों के बढ़ाने में सहायक बनती है उस समय प्रेम, दया, आनन्द सान्त्वना आदि की क्यारियों को नव-पल्लवित करने में आधार भूत होकर अखिल विश्व के सब प्राणियों की शुभ रूप से सेवा बजायगी।

आपको शास्त्र में 'धम्म सहाया' अर्थात् धर्म के अन्दर सहायता देने वाले कहा है। क्या गर्व मानने वाले कभी धर्म के सहायक कहला सकते हैं? धर्म के सहायक वे ही कहला सकते हैं जो स्वयं धर्म नियमों का पालन करते हैं, तथा अच्छे हृदय से प्रेममयी भाषा में दूसरों को उसका बोध कराते हैं।

---

* 'सब प्राणी मेरे मित्र हैं।'

गप्प मारने वाले स्वयं तो पाप बांधते ही हैं, पर दूसरों से भी बँधवाते हैं। क्योंकि थोथी गप्पो में दूसरों की निन्दा, दूसरो की चुगली और दूसरों की खोटी-चोखी ही का मुख्य विषय चलता रहता है। आज आपस में खूब फूट बढ रही है, इसका मुख्य कारण भी ऐसी अनावश्यक बातें ही हैं जो गप्पे कहलाती हैं। यदि आपको कुछ काम नहीं है, तो व्यर्थ की बातें मत करो, फिजूल गप्पे न उडाओ। इन बडबडाहटों से आपकी आध्यात्मिक-शक्ति कम हो जाती है। अवकाश के समय मौन का अवलम्बन करो। मौन साधारण को शक्तिमान पुरुष बना देता है। जब किसी एंजिन की शक्ति को काम में लाना होता है, तब मशीन चलाने वाला कारीगर उस मशीन की शक्ति को संचित कर लेता है। बुद्धिमान् भी, उस एंजिन चलाने वाले कारीगर की नाईं अपने मस्तिष्क की शक्तियाँ एकत्रित करके उन्हे रोकी हुई रखता है तथा जब और जहाँ चाहिये, वहीं उनका उचित और सशक्त प्रयोग करके वह अपने आवश्यक कार्य को सफलता के साथ सम्पादन कर लेता है। बकझक करने वाले में यह शक्ति नहीं होती।

यदि व्यर्थ की बक-झक की टेव लोगों में न होती, फिजूल की निन्दा करने का अभ्यास लोगों में न होता, अकारण गप्पों के लिये लोग अपने अमूल्य समय का नाश न करते, तो समाज में दल-बन्दियाँ धडे और पार्टियाँ कभी नहीं दिखलाई देतीं।

मैं पहले कह चुका हूँ कि द्वेष फैलाना हिंसा में गिना गया है, अतएव द्वेष-बुद्धि छोड दीजिए। आप 'औरों के सुख को देखकर कभी न जलूंगा' इस मन्त्र का जाप कीजिए, पवित्र बन जायेंगे। आप चाहे वेद सुनें, पुराण सुनें या कोई धर्म-शास्त्र सुनें, सब मे यही बात सार है।

कई भाई कह सकते हैं कि दूसरों के सुख से हमें क्या फायदा ? किन्तु आप इस भेद के पर्दे को उठा डालिये, फिर देखिये क्या आनन्द आता है। आप यदि इस पर्दे को उठा देंगे तो ईश्वर के दर्शन हो जायेंगे।

मैं जानूं हरि दूर है, हरि है हिरदा मांय।
आड़ी टाटी कपट की, तासे सूझत नांय ॥

(कबीर)

परमात्मा तो फरमाते हैं कि 'हृदय शुद्ध करो विश्वास रक्खो तत्क्षण आत्म-दर्शन पा जाओगे।' इसके बिना उसकी भेंट के लिए भटकते ही रहो पर कहीं न पाओगे।

हृदय शुद्धि का उपाय वही है जो मैंने ऊपर बतलाया है। अर्थात् दूसरे के सुख को देख कर ईर्ष्या नहीं करना, किन्तु संतुष्ट होना यही हृदय-शुद्धि का उपाय है।

मेरा अनुमान है ऐसी हृदय शुद्धि कई लोगों ने नहीं की। वे लोग करें कैसे ? यदि किसी के मकान में सरकार मुफ्त में नल बिजली या पंखे लगवा दे तो वह अपने तईं धन्य समझता है और राजा की दृष्टि में सब से अधिक सम्माननीय मैं ही हूँ, ऐसा सोचकर वह सुख से फूलता है। किन्तु यदि कहीं राजा मेहरबानी करके राय-रंक, धनी-गरीब सब के घरों में वही बिजली नल या पंखा बिना टेक्स लिए मेल दे तो उस धनी को अपने अकेले को मिलने में जो सुख था वह सुख अब उसे अनुभव नहीं होगा। फिर वह इस उपकार को उपेक्षा-दृष्टि से देखता है। कहता है कि—इसमें क्या है,

यह तो सब के यहाँ है ? सब के घरों में लगने से इसके नल-पखे में कोई खराबी नहीं आई है, जिससे इसके चित्त में रंज हो। परन्तु इसके चित्त में दूसरे के सुख के प्रति ईर्ष्या पैदा होती है। इसी से उसके हृदय में दु ख हुआ। इसके अतिरिक्त उपरोक्त सामग्रियो में सुख मानना भी केवल ईर्ष्यामात्र से था। औरों के पास ये सामग्रियाँ न होने से यह अपने मन में सुख मानता था। वही सामग्री दूसरो को मिलने से इसको बडा दु.ख हुआ। अत सिद्ध हुआ कि ईर्ष्या ही बडी है, नल, पखे आदि नहीं। इस प्रकार की द्वेष-बुद्धि छोड़ दो और उपरोक्त मन्त्र का जाप करो।

रामचन्द्र, हरिश्चन्द्र और पाडवों की स्तुति लोग क्यों करते हैं ? इसके विरुद्ध रावण, कस और कौरवों को लोग धिक्कार क्यों देते हैं ? इसलिये कि वे दूसरों के दु ख को अपना दु ख और दूसरों के सुख को अपना सुख समझते थे। स्मरण रहे--पाडव, रामचन्द्रादि वीर थे और वीरों से ही दया (अहिंसा) होती है। अहिंसा, क्षात्र-धर्म के विना नहीं पाली जाती। बनियाशाही के हाथों में जब से अहिंसा आई है, तब से वह कायरों का चिह्न बन गई है। आप (ओसवाल) भाई किसी जमाने में क्षत्रिय थे। आपके अन्दर क्षत्रियत्व का रक्त है। जितने तीर्थङ्कर हुए हैं, वे सब क्षत्रियवंश में उत्पन्न हुए हैं। यह धर्म (अहिंसा) कायरों का नहीं है।

अहिंसा-धर्म को समझने वालों में यह गुण होता है, कि वे दूसरे के दु ख को अपना दु ख और दूसरे के सुख को अपना सुख समझते हैं। ऊपर जिन रामचन्द्र का नाम कहा है, उनके त्याग की बात सुन कर यह बात आप लोगों की समझ में आ जाएगी।

जिस समय महाराज दशरथ के लिए कैकयी को दिया हुआ वरदान पूरा करने का समय आया तब पितृ आज्ञा-पालन करने भ्रातृभाव का आदर्श उपस्थित करने एवं झगड़ा मिटाने के लिये अपने को मिलता हुआ राज्य छोड़ कर रामचन्द्रजी ने वन की ओर प्रस्थान कर दिया। इतना अपूर्व स्वार्थ-त्याग करके उन्होंने जगत् को समझा दिया कि पिता की आज्ञा पालन बन्धु का प्रेम और स्वार्थ-त्याग का क्या महत्त्व है! जो लोग ईर्ष्यालु हैं वे इस बात को न समझने से ही इस सद्गुण के अधिकारी नहीं होते।

मित्रो! आप में ऐसा भ्रातृ-प्रेम है? आज भाई-भाई छोटी छोटी बात के लिये सिर फोड़ने को तैयार हो जाते हैं। कोर्ट तक मुकदमा चलता है। मैंने सुना कि बम्बई में दो भाइयों ने अपने धन का बराबर हिस्सा बाँट लिया पर बड़े भाई का बोया हुआ एक सुपारी का पेड़ छोटे भाई की जमीन के हिस्से में आ गया। बड़े भाई ने कहा 'मैंने इस पेड़ को बोया है, इसलिए इस पेड़ पर मेरा' हक है। उत्तर में छोटा भाई बोला—'तुमने बोया तो क्या हुआ मेरे हिस्से की जमीन पर है, इसलिए एक वर्ष सुपारी तुम लो और एक वर्ष हम। बड़े भाई ने यह बात न मानी। आखिर कोर्ट में मुकदमा चला। लाखों रुपये खर्च हो गये। जज एक दिन उस पेड़ को देखने आये। देखकर कहा— 'काट दो इस नाशकारी पेड़ को, जिसके कारण इतनी तकलीफ उठानी पड़ी। आखिर पेड़ काटा गया तब जाकर कहीं उन भाइयों को शान्ति आई। सुपारी का पेड़ काटना उन्हें ठीक लगा, परन्तु एक के पास रहने या आधा-आधा लेने के लिए वे राजी न हुए।

कहाँ यह भाइयों का नाशकारी मुकदमा और कहाँ राम का भाई के लिए राज्य ठुकरा देना!

यहां पर मोटी २ बातों का थोड़े में दिग्दर्शन कराया है। हिंसा और अहिंसा का विषय महान् है। सम्पूर्णता से कहना, हमारी बुद्धि से परे की बात है। शास्त्र के अन्दर गणधरों ने इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है, सद्‌गुरु के द्वारा उनके परिश्रम का लाभ लेना बड़ा सुखदायी होगा।

हिंसा और अहिंसा के भेद इसलिए समझाये हैं कि जैसे जौहरी अपने लड़कों को हीरा, माणिक, मोती की परीक्षा जिस समय बतलाये उस समय उसे नकली हीरा, माणिक, मोती की परीक्षा भी बतला दे तो उसे बड़ा लाभ होता है। जब वह सामने रक्खे हुए हीरा, माणिक, मोतियों में से नकली हीरा, माणिक, मोती छांट कर अलग रख दे, तब समझना चाहिये कि वह पूरा जौहरी बन गया। वह इनका व्यापार करे या न करे यह बात जुदी है। पर यह तो निश्चय है कि व्यापार करना उसके लिये बड़ी बात नहीं है। इसी तरह जो हिंसा-अहिंसा के स्वरूप को समदृष्टि के प्रताप से समझ गया, उसके लिए बुरे को त्यागना कोई कठिन काम नहीं है।

२

सांसारिक कार्य और अहिंसा

यह बात तो आप जानते ही हैं कि सांसारिक कार्यों में प्रवृत्त होना साधु का काम नहीं है। यह काम गृहस्थों का माना गया है। साधु इस कार्य में इसलिए प्रवृत्त नहीं होते कि वे आरम्भ युक्त होते हैं। सच्चा साधु आरम्भ का कोई काम नहीं करता। शास्त्र में साधु को निरारम्भी कहा है। सांसारिक कार्यों में धनादि का होना आवश्यक माना गया है। साधु जब सांसारिक कार्यों में हाथ डालना ही नहीं चाहता तब वह पैसा आदि क्योंकर अपने पास रक्खेगा? पैसा आदि पास न रखने से ही साधु को अपरिग्रही भी कहा है।

जिस प्रकार शास्त्र में साधु को निरारम्भी निष्परिग्रही कहा है, उसी प्रकार श्रावक-गृहस्थ को अल्पारम्भी अल्प-परिग्रही कहा गया है। यहाँ गृहस्थ के साथ 'श्रावक' शब्द हमने जान-बूझ कर रक्खा है। कारण गृहस्थाश्रम में रहने वाला श्रावक अवश्य ही अल्पारम्भी अल्पपरिग्रही होता है। तीसरा दर्जा महारम्भी महापरिग्रही का है जो सांसारिक सुखों में सदैव मूर्छित रहता है और आरम्भ परिग्रह को ही अपने जीवन का सर्वस्व समझता है। अतएव वह महारम्भी और महापरिग्रही कहा जाता है।

इससे आप यह मत समझिए कि श्रावक इहलौकिक सुख से वंचित रहता है या वंचित रहने के लिए उसे उपदेश दिया गया है। नहीं श्रावक के लिए ऐसा नियम नहीं है। श्रावक इहलौकिक

सुखों के लिए प्रयत्न करता और सुख भी भोगता है, पर उसे अपने जीवन का उद्देश्य नहीं समझता। मिथ्यात्वी में और श्रावक में यही एक बड़ा भारी अन्तर है।

दूसरा अन्तर यह है, कि श्रावक को स्थूल हिंसा का सर्वथा त्यागी तो होना पड़ता ही है, जहाँ तक बन पडता है, सूक्ष्म की भी रक्षा का ध्यान रखता है। हाँ, पहला काम उसका स्थूल जीवों की रक्षा करना है। मिथ्यात्वी में प्राय: यह बात नहीं होती। मौका पड़ने पर, वह नियम की हद के पार भी काम कर बैठता है।

हमने ऊपर जिस श्रावक के गुण बतलाये हैं, वे विवेकी श्रावक के समझने चाहिए। केवल नामधारी आजकल के श्रावकों में यह गुण बहुत कम देखे जाते हैं। सच्चे उपदेश के नहीं मानने से, या सच्चे उपदेश देने वालों का संयोग न मिलने से, उन्हें कर्तव्या-कर्तव्य का ज्ञान कैसे प्राप्त हो सकता है? कर्तव्याकर्तव्य को अच्छी तरह न समझ सकने के कारण ही बहुत से भाई कर्तव्य के पालन में ढीले दिखाई देते हैं। यह दोष, केवल उन भाइयों का ही है, ऐसा एकान्त नहीं, किन्तु उनको कर्तव्याकर्तव्य या सच्चा ज्ञान समझाने वाले सच्चे उपदेशक भी थोड़े मिलते हैं। मेरी समझ में यह दोष उप-देशको का भी है, कि वे क्रमश कर्तव्य पालने का उपदेश कम देते हैं, या शास्त्रों का यथार्थ मर्म कम समझाते हैं।

याद रखिये, जो साधु के सूक्ष्म कर्तव्यों का सर्व साधारण गृहस्थ से पालने को कहता है, वह उसे अपने मार्ग से च्युत करता है। कुछ लोगों ने गृहस्थ (श्रावक) के सिर पर स्थावर जीवों की रक्षा करने का भार इतना डाल दिया, कि वे इसका विशेष ज्ञान न रखने से, स्थूल हिंसा से भी न बच सके। गृहस्थ के लिये, मुख्य रूप से स्थूल हिंसा से बचने का विशेष आग्रह किया गया है। यदि स्थूल

२

सांसारिक कार्य और अहिंसा

यह बात तो आप जानते ही हैं कि सांसारिक कार्यों में प्रवृत्त होना साधु का काम नहीं है। यह काम गृहस्थों का माना गया है। साधु उन कार्यों में इसलिए प्रवृत्त नहीं होते कि वे आरम्भ युक्त होते हैं। सच्चा साधु आरम्भ का कोई काम नहीं करता। शास्त्र में साधु को निरारम्भी कहा है। सांसारिक कार्यों में धनादि का होना आवश्यक माना गया है। साधु जब सांसारिक कार्यों में हाथ डालना ही नहीं चाहता तब वह पैसा आदि क्योंकर अपने पास रक्खेगा? पैसा आदि पास न रखने से ही साधु को अपरिग्रही भी कहा है।

जिस प्रकार शास्त्र में साधु को निरारम्भी निष्परिग्रही कहा है, उसी प्रकार श्रावक-गृहस्थ को अल्पारम्भी अल्प-परिग्रही कहा गया है। यहाँ गृहस्थ के साथ 'श्रावक' शब्द हमने जान-बूझ कर रक्खा है। कारण गृहस्थाश्रम में रहने वाला श्रावक अवश्य ही अल्पारम्भी अल्पपरिग्रही होता है। तीसरा वर्ग महारम्भी महापरिग्रही का है, जो सांसारिक सुखों में सदैव मूर्च्छित रहता है और आरम्भ परिग्रह को ही अपने जीवन का सर्वस्व समझता है। अतएव वह महारम्भी और महापरिग्रही कहा जाता है।

इससे आप यह मत समझिए कि श्रावक इहलौकिक सुख से वंचित रहता है, या वंचित रहने के लिए उसे उपदेश दिया गया है। यही श्रावक के लिए ऐसा नियम नहीं है। श्रावक इहलौकिक

है, अर्थात् इस तरह हिंसा का दोष एकान्त रूप स उस पर लागू नहीं होता। कोई व्यापारी किसी तरह का व्यापार करे और उसे उस व्यापार में हर तरह से खूब खर्चा भी करना पड़े, पर ऐसा करने से यदि वह बहुत अच्छा लाभ प्राप्त कर लेता है तो क्या वह किया हुआ खर्च कभी नुकसान मे परिगणित किया जा सकता है? नहीं। तो फिर किसी ने यदि जलादिक पदार्थ अपनी नाना प्रकार की जरूरतों को पूरा करने के लिए सग्रह कर रक्खा है और उससे अनुकम्पा-रूपी एक महान् लाभ प्राप्त कर लेवे, तो वह हिंसा में कैसे गिना जा सकता है? हाँ इस शास्त्रीय कथन के उच्च महत्त्व को वही समझ सकता है जो निष्पक्ष-भाव से इसका मनन कर चुका हो।

साथ ही इस बात को भी नहीं भुलाया जा सकता कि किसी गृहस्थ के लिए साधु द्वारा उक्त उपभोग्य वस्तुओं का देना वर्जित है, पर गृहस्थों द्वारा दिया जाना कहीं भी मना नहीं है। क्यों कि शास्त्रों में गृहस्थ और साधु का कल्प एक नहीं है। गृहस्थ सचित्त जलादिक वस्तुओ का अपनी विविध आवश्यकताओं को पूरा करने के उद्देश्य से सग्रह करके रखता है और उसमें उसको हिंसा होती ही है, तो उससे यदि वह अनुकम्पा रूपी महान् लाभ की प्राप्ति भी करले, तो यह सर्वथा हिंसा में कैसे गिना जा सकता है? इसलिये मनुष्य को, अनुकम्पा में हिंसा का मिथ्या आभास मानकर, कभी भी अपने महान् कर्त्तव्य से च्युत नहीं होना चाहिये। शास्त्रों में कहीं भी अनुकम्पा को हिंसा में परिगणित नहीं किया है।

पचेन्द्रिय जीवों की हिंसा करने वाले को नरक गति मिली, ऐसा पाठ पढ़ने में आया है, पर सूक्ष्म जीवो की हिंसा करने से भी मिली हो, ऐसा पाठ देखने में नहीं आया। इस प्रश्न का विशेष खुलासा नेमिनाथजी के विवाह से कीजिये।

के सिवा सूक्ष्म (स्थावर) हिंसा से ही बचने का मुख्य कर्तव्य होता तो शास्त्र में 'थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं' के बदले 'सुहुमाओ या सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं।'—व्रत—भंगक को बतलाते।

शास्त्रकार ने, पानी के अन्दर—नहीं नहीं पानी की एक बूंद के अन्दर असंख्यात जीव बतलाये हैं। अब कोई पानी का प्यासा आया, उसने पानी मांगा। श्रावक ने पानी पिला दिया। कई भाई यहां कह बैठते हैं, कि एक पंचेन्द्रिय जीव की रक्षा के लिए असंख्यात जीवों का नाश हो गया इसका जवाबदार कौन? पर हम शास्त्र में जहां तीर्थंकरों ने हिंसा का वर्णन किया है, वहां देखते हैं कि पंचेन्द्रिय जीवों के सामने सूक्ष्म जीवों का उतना महत्व नहीं दिया गया है। क्योंकि अल्पारम्भी के लिए ऐसे मार्ग का ग्रहण करना प्रत्येक अवस्था में सुगम एवं कल्याण-जनक नहीं होता। पंचेन्द्रिय याने स्थूल जीवों का संसार उसे विशेषता के साथ उस अवस्था में ले जाने के लिए समर्थ नहीं होता है, कि जिसे निरारम्भी और निष्परिग्रही कहते हैं। विवेकी श्रावक गृहस्थ सूक्ष्म जीवों की हिंसा से नहीं बच सकता। पंचेन्द्रिय जीवों के पोषणार्थ तथा स्वदेह निर्वाहार्थ जलादि पदार्थों का उपयोग करना उसके लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक हो जाता है। इसके सिवा जब श्रावक इस तरह से जलादिक का संग्रह करके आरम्भी बन चुका और उसकी चेष्टा स्पष्ट रूप से उस पदार्थ को किसी भी प्रकार से इस रास्ते में व्यय करने की है उस अवस्था में किसी को उस वस्तु का उपभोग करवा देने से उसे हिंसा का नया पाप लगा यह कैसे समझा जा सकता है? क्योंकि शास्त्रों में उल्लिखित जो अनुकम्पा का महत्व है वह इस बात का समर्थक है कि निःस्वार्थ-भाव से यदि अनुकम्पा की जाय तो वह कर्म-बन्धन से बाँधने वाली नहीं

सोऊण तस्स वयणं बहु पाणि विणासणं।
चिन्तइ से महापन्ने, साणुक्कोसे जिये हिउ ॥
(उत्तराध्ययन)

सारथी ने उत्तर दिया—

इन सब सुख के अभिलाषी भद्र प्राणियों को तुम्हारे विवाह के कार्य में बहुत जनों को भोजन देने के लिए इकट्ठा किया गया है।

सारथी के वचन को सुनकर महा प्रज्ञावान्, जीवों के हितेच्छु नेमिनाथजी विचार करने लगे—

जइ मज्झ कारणा एए हम्मंति सुबहू जिया।
न मे एयं निस्सेसं, परलोए भविस्सइ ॥

यदि मेरे विवाह के निमित्त बहुत प्राणी मारे जाते हैं, तो यह हिंसा मुझे परलोक में शान्तिदायिनी न होगी।

श्री नेमिनाथजी के अभिप्राय से, सारथी द्वारा सब जीव छोड दिये गये, तब उन्होंने कुण्डल आदि सब आभूषण उतार कर उस सारथी को इनाम में दे दिये।

अब विचार करने की बात यह है, कि बहुत जीव उस जल की कुण्डी में थे या उस बाड़े में? उत्तर यह होता है, कि सूक्ष्म जीवों की सख्या से तो जल की कुण्डी में असख्य जन्तु तथा अन्य जीवों की अपेक्षा से अनन्त जीव थे, परन्तु बाडे में तो गिनती के ही पशु-पक्षी थे। बुद्धिपूर्वक समझना चाहिये, कि यदि एकेन्द्रिय जीवों की रक्षा का, पचेन्द्रिय जीवों की रक्षा के बराबर माहात्म्य होता तो भगवान् नेमिनाथजी अपने स्नान करने के समय ही यह

२१ तीर्थङ्करों में यह बात प्रसिद्ध थी कि नेमिनाथ बाल-ब्रह्मचारी रह कर दीक्षा लेंगे। शास्त्र प्रसिद्ध होने से तथा नेमिनाथ स्वयं तीन ज्ञान के धारण करने वाले होने से इस बात को जानते थे कि मैं बाल-ब्रह्मचारी रहकर दीक्षा लूंगा, फिर उन्होंने यह विवाह का नया आडम्बर क्यों स्वीकार किया ? इसीलिए कि यादवों में महा-हिंसा घुस गई थी। उस हिंसा को दूर करने के लिए विवाह प्रसंग को लेकर बाड़े में बंधे हुए पशुओं को करुणा से छुड़ाया और महात्याग का जगत् को प्रभाव बतलाया। यदि स्थावर जीवों की हिंसा पंचेन्द्रिय जीवों के सदृश ही होती तो भगवान् नेमिनाथ विवाह के प्रसंग पर स्नान की कुण्डी में बहुत जल इकट्ठा किया था उस समय असंख्य-जल जीवों को देखकर कह देते कि 'मेरे स्नान के लिए असंख्य जीव मारे जाते हैं, इसलिए यह हिंसा मुझे श्रेय नहीं है। पर ऐसा कहे बिना ही स्नान करके हाथी पर विराजमान हो ठाट-बाट के साथ बरात के जुलूस को साथ ले उग्रसेन के महल पर गये। वहां बाड़े में जीवों को देखकर जगत् के जीवों को स्थूल जीवों की दया का माहात्म्य बताने के लिये सारथी से पूछा—

अह सो तत्थ निज्जंतो दिस्स पाणे भयद्दुए।
वाडेहिं पिंजरेहिं च सन्निरुद्धे सुदुक्खिए॥

अर्थात्—ये सब सुख के अर्थी जीव बाड़े और पिंजरे के अन्दर रोक कर किस लिये दुःखी किये गये हैं ?

अह सारही तओ भणइ एए भद्दाओ पाणिणो।
तुज्झ विवाहकज्जंमि, भोयावेउं बहुजणं॥

सोऊण तस्स वयणं बहु पाणि विणासणं।
चिन्तइ से महापन्ने, साणुक्कोसे जिये हिउ ॥

(उत्तराध्ययन)

सारथी ने उत्तर दिया—

इन सब सुख के अभिलाषी भद्र प्राणियों को तुम्हारे विवाह के कार्य में बहुत जनों को भोजन देने के लिए इकट्ठा किया गया है।

सारथी के वचन को सुनकर महा प्रज्ञावान्, जीवों के हितेच्छु नेमिनाथजी विचार करने लगे—

जइ मज्झ कारणा एए हम्मंति सुबहू जिया।
न मे एयं निस्सेसं, परलोए भविस्सइ ॥

यदि मेरे विवाह के निमित्त बहुत प्राणी मारे जाते हैं, तो यह हिंसा मुझे परलोक में शान्तिदायिनी न होगी।

श्री नेमिनाथजी के अभिप्राय से, सारथी द्वारा सब जीव-छोड दिये गये, तब उन्होंने कुण्डल आदि सब आभूषण उतार कर उस सारथी को इनाम में दे दिये।

अब विचार करने की बात यह है, कि बहुत जीव उस जल की कुण्डी मे थे या उस बाडे में ? उत्तर यह होता है, कि सूक्ष्म जीवों की संख्या से तो जल की कुण्डी में असख्य जन्तु तथा अन्य जीवों की अपेक्षा से अनन्त जीव थे, परन्तु बाडे में तो गिनती के ही पशु-पक्षी थे। बुद्धिपूर्वक समझना चाहिये, कि यदि एकेन्द्रिय जीवों की रक्षा का, पचेन्द्रिय जीवों की रक्षा के बराबर माहात्म्य होता तो भगवान् नेमिनाथजी अपने स्नान करने के समय ही यह

बात कहते कि यह बहुत प्राणियों की हिंसा मुझे शान्तिदात्री न होगी। वहां तो ऐसा कुछ भी न कहकर पशु-पक्षियों के बाड़े के सामने ही ऐसा कथन किया कि—'यह बहुत प्राणियों की हिंसा मुझे शान्तिदात्री न होगी। इससे स्पष्ट रीति से यह बात मालूम पड़ती है कि पंचेन्द्रिय की रक्षा महारक्षा है। नेमिनाथजी ने अपने प्रत्यक्ष में पशु पक्षियों को छुड़ाकर उदाहरण उपस्थित किया है।

कोई तर्क कर सकता है कि—'पंचेन्द्रिय की रक्षा में एकेन्द्रिय जीव मारे जायें तो एकेन्द्रिय जीवों की संख्या बहुत होने से पंचेन्द्रिय की रक्षा की अपेक्षा एकेन्द्रिय के आरम्भ का पाप ज्यादा होगा। यह कहना सर्वथा मिथ्या है। अगर ऐसा होता तो उस जीवदया को प्रकट करने के लिये स्नान आदि का आरम्भ और बरात जोड़ने का आडम्बर नेमिनाथ भगवान् कभी स्वीकार नहीं करते।

आज-कल आप लोगों में कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विषय में बड़ी गैर-समझ फैल रही है। अरुण्यास भाई कहते थे कि एक प्रसूता बाई को प्यास लगी। उसने एक श्राविका बहन से पीने के लिये पानी मांगा पर उसने इसलिए नहीं दिया कि पानी देने से तेले का दूध आता है। इस बहन ने यह तेले का दूध किसमें से निकाला यह हमारी समझ में नहीं आया। अमेरिका वाले यहां आकर हमारे भाइयों पर दया करें पर हम अपने भाई-बहनों के प्रति तिरस्कार करें यह कहाँ का न्याय है? मनुष्य पशु पर दया और छोटे-छोटे जीवों को बचाने की कोशिश करें, पर मनुष्य के प्राण जाते हों उस तरफ कुछ भी ध्यान न दें यह कितनी भारी नासमझी है! साधु को तो त्रसकाय की हिंसा का त्याग है, पर आपको नहीं है, फिर सूक्ष्म जीवों की ओट में आप अपने कर्त्तव्य के प्रति उदासीनता दिखलाते हो यह क्या उचित है?

दुनिया में ऐसा कोई आरम्भ का काम नहीं, जिससे कर्म-बन्ध न होता हो। काम को ज्ञानपूर्वक विवेक सहित करने से, पाप-बन्ध कम होता है और अज्ञानपूर्वक करने से भयङ्कर पाप-बन्ध हो सकता है।

कई भाई विचारते होंगे कि रोटी बनाने वाली बहन पाप से नहीं बच सकती। मैं कहता हूं, कि वह पाप से बहुतांश में बचती हुई पुण्य-प्रकृति का बन्ध भी कर सकती है। आप कहेंगे 'कैसे?' इसका उत्तर है—'जो बहन रसोई करने को अपने पर आया हुआ कर्त्तव्य समझती है, वह समझती है कि इस रोटी से बहुतों की आत्मा को शान्ति मिलेगी। अपने को मजदूरिनी न समझ कर जयणापूर्वक लकडियो को, कण्डों को और चूल्हे को साफ करती हुई, जीवों को बचाती हुई जो रसोई करती है वह पाप-प्रकृति में भी पुण्य-प्रकृति बाधती है। पर जो अपने को मजदूरिनी समझकर बेपरवाही से रसोई करती है और भोजन करने वालों को राक्षस समझती है, वह बहन पाप-प्रकृति में और पाप-प्रकृति बाँध लेती है।'

बहुत-सी बहनें रसोई न करने में अपने को पाप से बची हुई समझती हैं। पर मैं कहता हूँ कि यह उनका खयाल एकान्त यथार्थ नहीं है।

आज की बहुत-सी बहनों का जीवन आलस्यमय बन गया है। वे शास्त्र के वास्तविक अर्थ को स्वय तो कुछ समझती नहीं और न समझने की कोशिश ही करती हैं। शास्त्र में कहा क्या है और ये काम में किस ढग से लाती हैं। वे हम लोगों (साधुओं) के पास से घट्टी न फेरने की, पानी न लाने की, रसोई न बनाने की सौगन्द लेती हैं। वे समझती हैं कि ऐसा करने से हम पाप से बच जायगी, पर इन बाइयों को इस बात पर भी विचार करने की आवश्यकता है, कि आटा खाना

बात कहते कि यह बहुत प्राणियों की हिंसा मुझे शान्तिदात्री न होगी। यहां तो ऐसा कुछ भी न कहकर पशु-पक्षियों के बाड़े के सामने ही ऐसा कथन किया कि—'यह बहुत प्राणियों की हिंसा मुझे शान्तिदात्री न होगी। इससे स्पष्ट रीति से यह बात मालूम पड़ती है कि पंचेन्द्रिय की रक्षा महारक्षा है। नेमिनाथजी ने अपने प्रस्पष्ट में पशु पक्षियों को छुड़ाकर उदाहरण उपस्थित किया है।

कोई तर्क कर सकता है कि—पंचेन्द्रिय की रक्षा में एकेन्द्रिय जीव मारे जायें तो एकेन्द्रिय जीवों की संख्या बहुत होने से पंचेन्द्रिय की रक्षा की अपेक्षा एकेन्द्रिय के आरम्भ का पाप ज्यादा होगा। यह कहना सर्वथा मिथ्या है। अगर ऐसा होता तो उस जीवरक्षा को प्रकट करने के लिए स्नान आदि का आरम्भ और बरात जोड़ने का आडम्बर नेमिनाथ भगवान् कभी स्वीकार नहीं करते।

आज-कल आप लोगों में बलात्कारजन्य के विषय में बड़ी गैर-समझ फैल रही है। अमृतलाल भाई कहते थे कि एक प्रसूता बाई को प्यास लगी। उसने एक श्राविका बहन से पीने के लिये पानी मांगा पर उसने इसलिए नहीं दिया कि पानी देने से उसे का दण्ड आता है। इस बहन ने यह लेखे का दण्ड किसमें से निकाला यह हमारी समझ में नहीं आया। अमेरिका वाले यहां आकर हमारे भाइयों पर दया करें पर हम अपने भाई बहनों के प्रति तिरस्कार करें यह कहाँ का न्याय है? मनुष्य पशु पर दया और छोटे-छोटे जीवों को बचाने की कोशिश करें पर मनुष्य के प्राण जाते हों उस तरफ कुछ भी ध्यान न दें यह कितनी भारी नासमझी है! साधु को तो छकाया की हिंसा का त्याग है पर आपको नहीं है फिर सूक्ष्म जीवों की बात में आप अपने कर्त्तव्य के प्रति उदासीनता दिखलाते हो यह क्या उचित है?

सुना जाता है कि आजकल लोगों की प्रवृत्ति 'फ्लोर मिल' (आटा पीसने की चक्की) में आटा पिसाने की ओर बहुत बढ़ रही है। याद रखिये, इन मिलो में आटा पिसाने में गेहुँओं का सार (पौष्टिक तत्त्व) जल जाता है। दूसरी बात यह है कि घट्टी में आटा पिसाना और इस मिल में पिसवाना, इसमें जो पाप होता है उसमें भी बडा भारी अन्तर होता है। थोड़ी देर के लिये मान लीजिये कि आपने अपने सेर दो सेर या पाच सेर जितना भी आटा पीसा, सिर्फ उसी का जितना पाप लगना होगा-लगेगा, पर आप जब गिरनी (मिल) में आटा पिसवायेंगे, तब चाहे एक सेर पिसवाया हो या एक मन, परन्तु सारी गिरनी में जो महान् आरम्भ होता है, उसकी क्रिया आपको लगेगी। इसके सिवा—मांस और मछली बेचने वाले गेहूं खरीद कर उसी टोपली में ले आते हैं और उसी गिरनी में पिसवा ले जाते हैं जिसमें श्रावक लोग पिसवाते हैं। अब उनके गेहुँओ का संस्कार इन पर कैसा पडेगा ? यह बुद्धिमानों को सोचना चाहिये।

आलस्य के कारण, धर्म की ओट में जो आटा पीसने का त्याग ले लेती है और धर्मिणी बन बैठती है, उसे मैं तो तब धर्मिणी समझूं जब वह गृहस्थी से निकल कर सर्वारम्भ का ही त्याग ले ले।

मैं बम्बई के पास एक ग्राम में था। तब कुछ काठियावाडी बहनें दर्शन करने आईं। उनमें एक बुड्ढी बहन भी थी। बात चलने पर मैंने उनसे कहा—'गिरनी में पिसा हुआ आटा तो अब आप नहीं खाती हैं न ? क्योंकि इसमें भारी क्रिया लगती है।'

बुड्ढी बोली—'ए आटो खावामा मारो तो मन नथी मानतो, पर ए म्हारी बहुओ कहे छे के—अमो बम्बईनी सेठाणिओ थई, हवे हाथथी पीसवो ए सारु नथी।'

पड़ेगा पानी पीना पड़ेगा और रोटी भी जीमनी पड़ेगी ही फिर पाप से कैसे अलग रह सकोगी ?

आज की बहनों के लिये रसोइया चाहिए। पानी लाने वाला चाहिये आटा सीधा मोल आना चाहिये। वे तो सिर्फ गहने पहन कर आलस्यमय जीवन बिताने में ही अपनी शान समझती हैं। कैसी उलटी समझ ! ये बहनें यह नहीं सोचतीं, कि विवेक सहित रसोई करने में पानी लाने में, आटा पीसने में जितनी हम जयणा कर सकती हैं, उतनी मजदूर या मजदूरनी कभी नहीं कर सकती।

आजकल के नौकरों की बे परवाही प्रसिद्ध है। रसोई करने वाले नौकर द्वारा कई बार आटे में जीव हैं या नहीं इसका कुछ भी ध्यान न रख अंधा धुन्धी से आग जला रसोई बनाकर रख दी जाती है। कई पानी वाले भी मालिक पानी मंगवाता है कुएं का और वे आलस्य से नल से ही ले आते हैं। कुएं पर जाते भी हैं तो कुछ छाना कुछ न छाना पानी ले आते हैं। यही दोष कई चक्की पीसने वालियों में भी समझ लीजिये क्या जितनी चिन्ता जीव बचाने की आप लोगों को होती है उनको हो सकती है ?

'कभी नहीं। बहुधा गेहूँ आदि के साथ अन्य सैकड़ों प्राणी भी पीस लिये जाते हैं।

भाइयो, जरा विचार कीजिये कि यह सब पाप किसके जिम्मे आवेगा ? कई लोगों ने समझ रक्खा है कि दूसरे से काम कराने में पाप से बचेंगे और ऐसा करना पुण्य-कर्म समझ रक्खा है, पर इसमें तो उलटा अधिक पाप लगने की ही सम्भावना है।

और उसमे अनभिज्ञ रहने के कारण अभी क्या कर रहे है? इस ज्ञान के अभाव से लोग, केवल देखा-देखी अनुकरण करते हैं और अल्प-पाप मे भी महा-पाप मान कर विरोध करते हैं।

कई भाई सर्व-व्रती साधु मुनिराजों को आचार-विचार पालते हुये देख कर उनकी सूक्ष्म बातो का उसी माफिक अनुकरण करना प्रारम्भ कर देते हैं। साधु किसी गृहस्थ को दान नहीं देते, इसलिए साधु के सिवा वे भी किसी को न दे। साधु (गृहस्थ को अनेक क्रियाओ द्वारा उनका जीवन निर्वाह-रूप) परोपकार नहीं करते, वैसे हम भी न करें। या साधु जिन कामों को न करें, ऐसे परोपकार के कार्य में भी पाप समझें। यह समझना शास्त्र-विधि के अनजानों का है। क्योकि सर्व-व्रती मुनिराजो के आचार, कल्प और कल्प की मर्यादा अलग है और गृहस्थो की अलग। जैसे कि जिनकल्पी महात्मा अकेले रहते, मौन रखते, धर्मोपदेश नहीं देते, दूसरे साधुओ की वैया-वच्च आदि कृत्य नहीं करते, यह उनका कल्प है। परन्तु यदि स्थविरकल्पी साधु जिनकल्पी की देखा-देखी अनुकरण करके वैयावच्च करना, सघ की सेवा करना, परोपकार करना छोड दे, तो उसको निर्दयी कहा है। ठाणाग सूत्र के चौथे ठाणे में—"आयाणुकम्पे नाम एगे नो पराणुकम्पे।" अर्थात् 'कोई २ पुरुष अपने आत्मा की ही खान-पान से रक्षा करता है, परन्तु दूसरे की नहीं करता, वह या तो जिनकल्पी या प्रत्येक बुद्ध या निर्दयी कहा है।' शास्त्र के इस कथन से यह बात स्पष्ट है कि जिन-कल्पी या प्रत्येक बुद्ध दूसरे की अन्न-पानी आदि से रक्षा न करे, यह उनके उत्कृष्ट उत्सर्ग मार्ग का कल्प है, परन्तु यदि स्थविरकल्पी साधु साधु की और गृहस्थ गृहस्थ की अन्न-पानी आदि से अनु-कम्पा न करे, तो वह निर्दयी कहा जाता है। वैसे ही साधु महात्माओं को जिन-जिन कामो के करने का कल्प नहीं है, उन-उन

मैं—'ठीक ए बेनो मुम्बईनी सेठाणियो थई एटले पीसवानी दुःख तो बीजा ने आपी ए दुःख थी मुक्त थई। पण तमे तो गृहस्थ ना एटले ए घंटिया करतां वधारे दुःख पाय छे एवा कामों पण तम हजू छोड़या नथी जणाता। जेम के संतति प्रसव करवानुं दुःख, के एक महादुःख गणाय छे—ए तमे क्यांई छोड्यो छे? ज्यारे ए काम तमे नथी छोड़ी शक्या तो घंटिया पीसवाना दुःख ने लीधे गिरणीनो भ्रष्ट अने महा-आरम्भ थी पेदा थयेल आटो खावाथी तमारो पाप कम टले? अने सुधारो पण केम थयो गणाय?

जो बाइयाँ सन्तति प्रसव जैसे महान् कष्ट से दूर नहीं हो सकती हैं और सन्तान के लिये नहीं करने लायक अनेक अनुचित पाप भी करती हैं वे बहनें अपने खाने का आटा पीसने का त्याग लेकर गिरणी में या दूसरे से आटा पिसवा कर धर्मिणी बनना चाहती हैं तो यह उचित कैसे कहा जा सकता है?

इसी तरह मारवाड़ की बहनों को भी समझना उचित है कि मौज शौक और आलस्य में जीवन बिता कर व्यावहारिक कामों का बोझ दूसरे पर डाल देना कि जिससे अल्पारम्भ के बदले महारम्भ पैदा हो और उसका ख्याल न करके आप धर्मात्मा कहलावें यह उचित नहीं है। धर्मात्मा स्त्री-पुरुष आलस्य और दुःख के मारे अपना बोझ दूसरे पर डाल कर धर्मात्मा बनने का ढोंग नहीं रचा करते हैं।

भाइयो और बहनो! आप लोग शास्त्रों को देखिए और समझिए। यदि स्वयं में इतनी शक्ति न हो कि उनके तत्त्व को समझ सकें तो सद्गुरुओं से समझिये। जब आप शास्त्र-तत्त्व को समझ लेंगे और यह जान जायेंगे कि किस क्रिया के करने से पुण्य तथा पाप होता है तब पता लग जायगा कि हमें क्या करना चाहिये।

और उसमे अनभिज्ञ रहने के कारण अभी क्या कर रहे हैं? इस ज्ञान के अभाव से लोग, केवल देखा-देखी अनुकरण करते है और अल्प-पाप मे भी महा-पाप मान कर विरोध करते हैं।

कई भाई सर्व-व्रती साधु मुनिराजों को आचार-विचार पालते हुये देख कर उनकी सूक्ष्म बातो का उसी माफिक अनुकरण करना प्रारम्भ कर देते हैं। साधु किसी गृहस्थ को दान नहीं देते, इसलिए साधु के सिवा वे भी किसी को न दे। साधु (गृहस्थ को अनेक क्रियाओ द्वारा उनका जीवन निर्वाह-रूप) परोपकार नही करते, वैसे हम भी न करें। या साधु जिन कामो को न करें, ऐसे परोपकार के कार्य मे भी पाप समझें। यह समझना शास्त्र-विधि के अनजानों का है। क्योकि सर्व-व्रती मुनिराजों के आचार, कल्प और कल्प की मर्यादा अलग है और गृहस्थो की अलग। जैसे कि जिनकल्पी महात्मा अकेले रहते, मौन रखते, धर्मोपदेश नहीं देते, दूसरे साधुओं की वैया-वच्च आदि कृत्य नहीं करते, यह उनका कल्प है। परन्तु यदि स्थविरकल्पी साधु जिनकल्पी की देखा-देखी अनुकरण करके वैयावच्च करना, सघ की सेवा करना, परोपकार करना छोड दे, तो उसको निर्दयी कहा है। ठाणाग सूत्र के चौथे ठाणे में—"आयाणुकम्पे नाम एगे नो पराणुकम्पे।" अर्थात् 'कोई २ पुरुष अपने आत्मा की ही खान-पान से रक्षा करता है, परन्तु दूसरे की नहीं करता, वह या तो जिनकल्पी या प्रत्येक बुद्ध या निर्दयी कहा है।' शास्त्र के इस कथन से यह बात स्पष्ट है कि जिनकल्पी या प्रत्येक बुद्ध दूसरे की अन्न-पानी आदि से रक्षा न करे, यह उनके उत्कृष्ट उत्सर्ग मार्ग का कल्प है, परन्तु यदि स्थविरकल्पी साधु साधु की और गृहस्थ गृहस्थ की अन्न-पानी आदि से अनुकम्पा न करे, तो वह निर्दयी कहा जाता है। वैसे ही साधु महात्माओ को जिन-जिन कामों के करने का कल्प नहीं है, उन-उन

कामों को मुनिराज का कल्प बतला कर अगर श्रावक भी परोपकारादि छोड़ दे तो उसे भी निर्दय समझना चाहिए। इसलिये साधु की देखा-देखी परोपकार के काम गृहस्थ को छोड़ देना विधि-मार्ग का अज्ञान है।

साधुओं की भाव शुचि अति उत्कृष्ट होने से स्नान दंत-धावन आदि द्रव्य शुचि ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये शास्त्र विधि से उन्हें नहीं कल्पती है। यह देखकर कोई भोला जीव यह अर्थ निकाले कि जैसे साधु महात्मा स्नान दंत-धावन आदि नहीं करते यह उनकी मर्यादा है, इसलिए श्रावकों को भी नहीं कल्पते इसलिये नहीं करने चाहिये यह श्रावक के कल्प से अनजानों का समझना है। क्योंकि शास्त्र में आनन्द आदि श्रावकों का आचार कथन जहाँ चला है वहाँ स्नान की और दन्त धावन आदि की विधि का कथन है। परन्तु ऐसा करना कल्पता ही नहीं ऐसा निषेध नहीं है। कोई मूर्खता से कहे कि श्रावक को दन्तधावन आदि नहीं कल्पता तो समझना चाहिये कि वह शास्त्र व श्रावक—धर्म से अनजान है।

शास्त्र में गृहस्थाश्रम चलाने वाले श्रावक के लिये स्नान या दन्तधावन आदि बाह्य शुचि का निषेध नहीं किया है, बल्कि अविधि का निषेध किया है। हाँ स्नानादि को श्रावक बाह्य शुचि समझता है किन्तु अन्तरंग भाव शुचि यानि मोक्ष का साधन नहीं समझता। जैनेतर शास्त्रों में भी कई स्थान पर स्नान को इसी रूप में माना है। जो लोग इस द्रव्य-भाव शुचि के भेद को न समझ कर गृहस्थाश्रम में रहते हुए गन्दे वस्त्रादिक रख कर लोगों में यह कहते हैं कि गन्दा रहना स्नानादि न करना यह हमारा श्रावक का आचार है, तो ऐसा कहने वाला जैन धर्म के श्रावक की मर्यादा का अनजान है और धर्म की घृणा पैदा करने रूप पाप का भागी है।

साधु मुनिराजों की आचार-विधि, श्रावको से बिल्कुल भिन्न है। अत श्रावक के लिये, साधुओं की क्रिया पालने का कहीं आदेश नहीं है। यह बात मैं अपने मन से नहीं कह रहा हूँ, शास्त्र देखने से आपको भी इस बात का पता लग जायगा।

श्रावक को सोच समझ कर ही किसी बात का त्याग लेना चाहिये, देखादेखी नहीं। साधुओं को भी, त्याग कराते समय श्रावक की वस्तु स्थिति पर दृष्टि अवश्य डालनी चाहिये। यह नहीं कि जैसे कोई श्रावक बैठे २ ही क्षणिक वैराग्य में आकर सथारा लेने की इच्छा प्रकट करे और साधु वास्तविक स्थिति को न समझ कर त्याग करा दे। यदि श्रावक, इस प्रकार का साधु से त्याग ले और साधु उसे करा दे, तो यह उनका बिल्कुल अज्ञान है। त्याग कराने वाले और लेने वाले को वस्तु स्थिति और त्याग के महत्त्व का ज्ञान होना चाहिये। ज्ञान रखकर त्याग कराना शुद्ध त्याग है।

मुनियो को अपनी विधि पालने के लिये, शास्त्र मे वर्णित किसी उच्च साधु को अपना आदर्श मानना चाहिये। इसी प्रकार श्रावक को अपनी विधि पालने के लिये आनन्द आदि उच्च श्रावकों के व्रत प्रत्याख्यान की विगत, शास्त्र में, श्रावकों के आदर्श के लिये ही ली गई है। यदि ऐसा न होता, तो इन लोगों का शास्त्र में उल्लेख करने से क्या लाभ ?

आनन्द आदि उच्च श्रावकों की दिनचर्या और उच्च नियमों के अनुकूल अपनी दिनचर्या न बिताने के ही कारण, लोगो की दिनचर्या और वर्ताव स्फूर्तिप्रद होने की जगह आलस्यमय हो गए हैं। यही कारण है कि यूरोप के मनुष्यो की आयु औसत प्रतिशत ५० से ७५ है और भारतीयों की २० से २५ वर्ष तक की ही ॥

विचार कीजिए, इतना महदंतर क्यों ? यूरोपियन वृद्ध होकर क्यों मरता है और भारतीय तरुण होने के पूर्व ही क्यों मर जाता है ? जिस आयु में यूरोप निवासी उत्साही कार्यों में लगने की उत्कंठा प्रदर्शित करते हैं उस आयु में भारतीय मृत्यु की घड़ियाँ क्यों गिनने लगते हैं ? एक कारण है—उनका रहन-सहन विधि-व्यवहार प्रायः नियमित और यहाँ वालों का प्रायः अनियमित ! भला अनियमित जीवन भी कोई जीवन है ?

मैंने ऊपर आपको यथाबुद्धि अनुकरण न करने का कुछ दिग्दर्शन कराया। अब जरा कर्त्तव्या-कर्त्तव्य का ज्ञान न होने से अल्प-पाप को महा-पाप समझकर विरोध करते हैं इस पर भी कुछ कह देना चाहता हूँ। दूर कहाँ जाऊँ आप खादी को ही लीजिए। लोग कहते हैं कि—चर्खा गरन फिरता है इससे वायुकाय का आरम्भ होता और उससे कते हुये सूत से कपड़ा बुना जाता है उसमें भी आरम्भ होता है। यह बात यथार्थ है पर विलायती (मैंचेस्टर आदि का) कपड़ा तो छहों काया की महान् हिंसा के द्वारा तैयार होता है यह आपको मालूम है ?

वीतराग का मार्ग वैसा कुछ अटपटाँग बुद्धि वाले भाई समझते हैं उससे निराला है आज लोग आटे का माँड लगा कर कपड़ा तैयार करने वाले रेगरों और जुलाहों को अछूत एवं घृणित कर्म करने वाले कहते और उनसे दूर रहते हैं, पर मिल के कपड़ों में अक्सर चर्बी लगाई जाती है और वे महान् हिंसा से तैयार किये जाते हैं। उन कपड़ों के तैयार करने वालों को आप बड़े आदर की दृष्टि से देखते और धनीमानी कहकर उनका गौरव बढ़ाते हैं। वे मिलों के मालिक हैं न ! चर्खे से सूत पैदा कर कपड़ा बनवाने में लोग पाप समझते हैं किन्तु बुद्धिमान और वीतराग के

मार्ग को समझने वाला स्पष्ट जानता है कि हाथ के बने कपड़ों में अल्पारम्भ है और मिल के बने कपडों में महारम्भ है।

आज के बुद्धिमानो ने शोध के साथ यह सिद्ध करके बतलाया है कि चर्खा सिर्फ पेट भरने का साधन ही नहीं, पर कितनी ही निकम्मी आदत छुडा देने वाला है और उसका यथार्थ मर्म जानने वाले को एकाग्रता प्राप्त करने का भी साधन है। चर्खा विधवाओं के धर्म की रक्षा करने वाला और भूखों की भूख मिटाने वाला है, ऐसा आज के विद्वान् कहते है। देश की दरिद्रता मिटाने के लिये आज की बडी २ धन वाली नूतन बहनें भी इसे कातती हैं। चर्खा आजकल का आविष्कार नहीं—बहुत पहले का है। इसका जिक्र जैन सिद्धान्तों की कथा मे भी आया है। इस पर योग्य विचार कर्तव्याकर्तव्य का जानकार ही कर सकता है।

आज, कर्त्तव्य के विषय में बडी उल्टी समझ हो रही है। तभी तो लोग खेती को महापाप और दूसरे अनार्य वाणिज्य को श्रेष्ठ समझते हैं। यह भी सुनने में आया है कि लोग बाजार से घी लाने में अल्पारम्भ और घर पर गाय द्वारा घी पैदा करने में महारम्भ मान बैठे हैं पर खेती को जैन-शास्त्र में वैश्य-कर्म बतलाया गया है।

उत्तराध्ययनजी के तीसरे अध्यय में, ऐसा कथन है कि चार अग आराधने वाला पुरुष स्वर्ग-सुख का उपभोग कर उस घर में जन्म लेता है, जहा दस बोल की योगवाई होती है। पहला बोल, 'खेत्त वत्थु•••' अर्थात् सेतु व केतु ये दो प्रकार के धान्यादि निष्पत्ति के योग्य क्षेत्र हों, यानी जिसमें जल के सींचने से पैदा हो, उसे सेतु कहते हैं और जिसमे वृष्टि के जल से धान्यादि निष्पन्न हों, उसे केतु

विचार कीजिए, इतना महदंतर क्यों ? यूरोपियन वृद्ध होकर क्यों मरता है और भारतीय तरुण होने के पूर्व ही क्यों मर जाता है ? जिस आयु में यूरोप निवासी उत्साही कार्यों में लगने की उत्कंठा प्रदर्शित करते हैं उस आयु में भारतीय मृत्यु की घड़ियाँ क्यों गिनने लगते हैं ? एक कारण है--उनका रहन-सहन विधि-व्यवहार प्रायः नियमित और यहां वालों का प्रायः अनियमित। भला अनियमित जीवन भी कोई जीवन है ?

मैंने ऊपर आपको अयाग्य अनुकरण न करने का कुछ दिग्दर्शन कराया। अब जरा कर्तव्या-कर्तव्य का ज्ञान न होने से अल्प-पाप को महा पाप समझकर विरोध करते हैं इस पर भी कुछ कह देना चाहता हूँ। दूर कहाँ जाऊँ आप खादी का ही लीजिए। लोग कहते हैं कि—चर्खा गरन २ फिरता है इससे वायुकाय का आरम्भ होता और उनसे बने हुये सूत से कपड़ा बुना जाता है इसमें भी आरम्भ होता है। यह बात यथार्थ है पर विलायती (मैंचेस्टर आदि का) कपड़ा तो कहाँ काया की महान् हिंसा के द्वारा तैयार होता है यह आपको मालूम है ?

वीतराग का मार्ग जैसा कुछ अल्पलोग बुद्धि वाले भाई समझते हैं उससे निराला है आज लोग आटे का मांड लगा कर कपड़ा तैयार करके देने वाले रेगरों और जुलाहयों को अछूत एवं घृणित कर्म करने वाले कहते और उनसे दूर रहते हैं, पर मिल के कपड़ों में अक्सर चर्बी लगाई जाती है और वे महान् हिंसा से तैयार किए जाते हैं। उन कपड़ों के तैयार करने वालों को आप बड़े आदर की दृष्टि से देखते और धनीमानी कहकर उनका गौरव बढ़ाते हैं। वे मिल के मालिक हैं न! चर्खे से सूत पैदा कर कपड़ा बनवाने में लोग पाप समझते हैं किन्तु बुद्धिमान और वीतराग के

मार्ग को समझने वाला स्पष्ट जानता है कि हाथ के बने कपडों में अल्पारम्भ है और मिल के बने कपडों में महारम्भ है।

आज के बुद्धिमानों ने शोध के साथ यह सिद्ध करके बतलाया है कि चर्खा सिर्फ पेट भरने का साधन ही नहीं, पर कितनी ही निकम्मी आदत छुडा देने वाला है और उसका यथार्थ मर्म जानने वाले को एकाग्रता प्राप्त करने का भी साधन है। चर्खा विधवाओं के धर्म की रक्षा करने वाला और भूखों की भूख मिटाने वाला है, ऐसा आज के विद्वान् कहते है। देश की दरिद्रता मिटाने के लिये आज की बडी २ धन वाली नूतन बहनें भी इसे कातती हैं। चर्खा आजकल का आविष्कार नहीं—बहुत पहले का है। इसका जिक्र जैन सिद्धान्तों की कथा मे भी आया है। इस पर योग्य विचार कर्तव्या-कर्तव्य का जानकार ही कर सकता है।

आज, कर्त्तव्य के विषय में बडी उल्टी समझ हो रही है। तभी तो लोग खेती को महापाप और दूसरे अनार्य वाणिज्य को श्रेष्ठ समझते हैं। यह भी सुनने में आया है कि लोग बाजार से घी लाने में अल्पारम्भ और घर पर गाय द्वारा घी पैदा करने में महारम्भ मान बैठे हैं पर खेती को जैन-शास्त्र में वैश्य-कर्म बतलाया गया है।

उत्तराध्ययनजी के तीसरे अध्ययय में, ऐसा कथन है कि चार अग आराधने वाला पुरुष स्वर्ग-सुख का उपभोग कर उस घर में जन्म लेता है, जहा दस बोल की योगवाई होती है। पहला बोल, 'खेत्ता वत्थु•••' अर्थात् सेतु व केतु ये दो प्रकार के धान्यादि निष्पत्ति के योग्य क्षेत्र हों, यानी जिसमें जल के सींचने से पैदा हो, उसे सेतु कहते हैं और जिसमे वृष्टि के जल से धान्यादि निष्पन्न हों, उसे केतु

कहते हैं। यह पुण्यवान पुरुष ऐसे ही गृहस्थ के घर जन्म लेता है। इस कथन से स्पष्ट है कि खेती निषिद्ध धन्धा नहीं पर पुण्य वाले गृहस्थ की सम्पत्ति मानी गई है। उत्तराध्ययन सूत्र के २५ वें अध्ययन में जहां वैश्य-कर्म का वर्णन है—'वइसो कम्मुणा होई' इस पाठ की टीका में 'कृषि पशुपालनादिना भवति' लिखा है। अर्थात् खेती करने व पशुओं की पालना करने से वैश्य कहलाता है। इसमें भी वैश्य का प्रधान कर्म कृषि करना लिखा है। भगवान् ऋषभदेवजी ने कर्म के तीन भेद बतलाये हैं—असि मसि और कृषि। अर्थात् खेती करना भी प्रधान आजीविका के कर्म में है। इन कथनों से मालूम होता है कि जैन-शास्त्र खेती को अनार्य-कर्म या अस्वाभाविक-कर्म नहीं कहते, किन्तु इसमें आरम्भ अवश्यमेव मानते हैं।

अब रही बाजार के घी की बात। जरा इस पर विचार कीजिये। क्या बाजार का घी आकाश से टपक पड़ा ?

'नहीं।

किसी न किसी ने तो गौओं की रक्षा की होगी तभी घी मिला'

दूसरी बात आजकल के घी में बहुत सम्मिश्रण होना सुना जाता है। कहा जाता है कि 'वेजीटेबिल' घी जिसे कहते हैं, उसमें वास्तविक घी का बिल्कुल अंश नहीं है। वह न मालूम किन अप्राकृतिक चीजों से बनाया जाता है। वह भारत में बनने लग गया है। सुना है इसमें चर्बी का भी मिश्रण होता है।

विदेशी घी एक रुपये का जितना मिलता है उतने देशी घी के लिये लगभग दो रुपये लगते हैं। जिस देश वाले इस भारत से हजारों मन मक्खन ले जावें वे भारतीयों को सस्ता घी दें यह कैसे

सम्भव है ? इस घी में यदि सत्व हो, यह घी भारतीय घी से अच्छा हो, तो वे यहां से महँगा घी ले जा कर वहाँ से सस्ता क्यों भेजें ?

आप अहिंसावादी होने का दावा करते हैं, तो अहिंसा का सच्चा अर्थ समझिये। अहिंसक कहलाने वाले कई भाई अहिंसा का वास्तविक अर्थ न जानने से, कई बार ऐसे काम कर बैठते हैं कि अन्य धर्मावलम्बी बन्धु उनके कार्यों को देखकर हँसी उडाते हैं। वे जैन-धर्म को लजाते हैं।

हिंसा-अहिंसा का रूप न समझ सकने के कारण ही कई श्रावक चींटी मर जाने पर जितना अफसोस जाहिर करते हैं, उतना ही मनुष्य पर अत्याचार या मिथ्या बर्ताव करने में पश्चात्ताप नहीं करते।

यह बात हृदय में अंकित कर लीजिये कि अत्याचार करना जैसे मानसिक दौर्बल्य है, वैसे ही कायरता धारण करके हृदय में जलते हुये, ऊपर से अत्याचार सहन कर लेना भी मानसिक दौर्बल्य है। परन्तु वास्तविक शान्ति धारण कर लेना यह मानसिक उच्चता और उन्नत धर्म है। जैसे कोई दुराचारी पुरुष किसी धर्मशीला स्त्री का शील हरण करता है और दूसरा उस शरण आई हुई बहन को कायर बन कर शरण नहीं देता और भागता है, तो ये दोनों मानसिक दौर्बल्य के धारण करने वाले हैं। एक क्रूरपन से और दूसरा कायरपन से। आज यह बात दिखाई पड़ती है कि बहुत से जैनी भाई कायरता को ही अहिंसा मान बैठे हैं। इसकी वजह से कर्तव्य से पराङ्मुख होकर अन्य समाज के सामने डरपोक से दिखाई देते है। यह उनके मानसिक दौर्बल्य का फल है। वास्तविक अहिंसा कायरों का धर्म नहीं, किन्तु सच्चे वीरों का है।

कहते हैं। वह पुण्यवान् पुरुष ऐसे ही गृहस्थ के घर जन्म लेता है। इस कथन से स्पष्ट है कि खेती निषिद्ध धन्धा नहीं पर पुण्य वाले गृहस्थ की सम्पत्ति मानी गई है। उत्तराध्ययन सूत्र के २५ वें अध्ययन में जहां वैश्य-कर्म का वर्णन है—'वइसो कम्मुणा होई' इस पाठ की टीका में 'कृषि पशुपालनादिना भवति' लिखा है। अर्थात् खेती करने व पशुओं की पालना करने से वैश्य कहलाता है। इसमें भी वैश्य का प्रधान कर्म कृषि करना लिखा है। भगवान् ऋषभदेवजी ने कर्म के तीन भेद बतलाये हैं—असि मसि और कृषि। अर्थात् खेती करना भी प्रधान आजीविका के कर्म में है। इन कथनों से मालूम होता है कि जैन-शास्त्र खेती को अनार्य-कर्म या अस्वाभाविक-कर्म नहीं कहते, किन्तु इसमें आरम्भ अवश्यमेव मानते हैं।

अब रही बाजार के घी की बात। जरा इस पर विचार कीजिये। क्या बाजार का घी आकाश से टपक पड़ा ?

'नहीं।

किसी न किसी ने तो गौओं की रक्षा की होगी तभी घी मिला'

दूसरी बात आजकल के घी में बहुत सम्मिश्रण होना सुना जाता है। कहा जाता है कि 'वेजीटेबिल' घी जिसे कहते हैं उसमें वास्तविक घी का बिल्कुल अंश नहीं है। वह न मालूम किन अप्राकृतिक द्रव्यों से बनाया जाता है। वह भारत में बनने लग गया है। सुना है इसमें चर्बी का भी मिश्रण होता है।

विदेशी घी एक रुपये का जितना मिलता है उतने देशी घी के लिए लगभग दो रुपये लगते हैं। जिस देश वाले इस भारत से हजारों मन मक्खन ले जावें वे भारतीयों को सस्ता घी दें यह कैसे

जो सकल्पजा हिंसा करता है उसे पापी अधर्मी के नाम से पुकारते हैं, पर जो आरम्भ-जनित हिंसा करता है उसे आरम्भी कहते है, परन्तु अकृत्य करने वाला, पापी या अधर्मी नहीं कहते।

भाइयो ! अब आप लोग समझ गये होंगे, कि जैन धर्म की अहिंसा इतनी सकुचित नहीं है कि ससार-कार्य में बाधक हो, पर इतनी विस्तृत है, कि बडे-बड़े राजा-महाराजा भी धारण कर सकते हैं और उनके व्यवहार में किसी प्रकार की रुकावट नहीं आ सकती। जैन-अहिंसा यदि सकुचित होती और ससार-कार्य में बाधक होती, तो पूर्व के राजा महाराजा इस धर्म को कैसे धारण करते ?

मैं पहले कह चुका हूँ, कि श्रावक संकल्पजा हिंसा का त्यागी होता है और आरम्भजा का आगार रखता है। वह संकल्जा हिंसा को न छोड कर, आरम्भजा हिंसा को ही प्रथम छोडने का प्रयत्न करे, ऐसा कभी नहीं हो सकता। जैसे धोती को छोडकर कोई मनुष्य पगडी को रखता है तो वह नादान गिना जाता है, वैसे ही जो आरम्भजा को छोड़कर सकल्पजा हिंसा करता है, वह भी ऐसा ही नादान है।

आप लोगो को अहिंसा का अच्छी तरह ज्ञान हो जाय, इसलिये अब एक मोटी बात और कह देता हूँ।

अहिसा एक सात्विक-धर्म है। इसके पालने वाले को तीन श्रेणियों में माना गया है। सात्विक वृत्ति वाले, राजस वृत्ति वाले और तामस वृत्ति वाले। अहिंसा का पूर्ण रूप से पालन, वीतराग पुरुष ही कर सकते हैं। इसके अलावा, जो सात्विक वृत्तिवाले मुनि-गण हैं, वे भी सम्पूर्ण हिंसा के त्यागी हैं। जो राजस-वृत्ति वाले अहिंसा धर्म के पालक हैं, वे, जानबूझ कर तो हिंसा नहीं करते हैं,

सुधा' नामक पत्रिका में अहिंसा पर एक आलोचनात्मक लेख पढ़ा था। उसमें लेखक ने गीता के—

अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन !

इस श्लोक में जो 'अनार्य' शब्द आया है उसका अर्थ 'जैन' या 'बौद्ध' किया है। शायद उन्होंने जैनों की अच्छी प्रथा को न समझकर, आज के जैनों की अकर्मण्यता और दौर्बल्य देखकर यह आक्षेप कर दिया है, पर यदि लेखक जैन लोगों की अहिंसा का सिद्धान्त के पहले शास्त्रों का अवलोकन कर विचारपूर्वक लिखता तो मेरा अनुमान है कि ऐसा लिखने का कभी साहस न करता।

जैनों की अहिंसा अनार्यों की नहीं वीर आर्यों की है। सच्चा जैन काम पड़ने पर रण-संग्राम में जाने से भी नहीं हिचकता। हाँ वह इस बात का जरूर खयाल रखता है कि मैं अन्याय का भागी न बन जाऊँ मुझ से व्यर्थ की हिंसा न हो जाय।

अहिंसा कायर बनाती है, या कायरों की है यह बात अहिंसा के वास्तविक गुण को न समझने वाले ही कह सकते हैं। अहिंसा-व्रत वीर शिरोमणि ही धारण कर सकता है। कायर अहिंसाधारी नहीं कहला सकते। वे अपनी कायरता छिपाने के लिये भले ही अहिंसा का ढोंग रच लें पर उन्हें अहिंसक कहना योग्य नहीं कहा जा सकता। वैसे तो सच्चा अहिंसाधारी व्यर्थ में एक चींटी के प्राण हरण करने में भी थर्रा जायगा क्योंकि यह संकल्पजा हिंसा है; इस कृत्य को वह व्रत भंग का कारण समझता है पर जब न्याय से रण-संग्राम में जाने का मौका आ पड़े तो वह संग्राम करता हुआ भी अपने व्रत को अक्षविक्षत रख सकता है।

अहिंसा-आचरण की शक्यता

बाह्य और आभ्यन्तर स्वरूप को समझने के लिये हिंसा-अहिंसा को समझना चाहिये। अहिंसा के बिना ससार के समस्त प्राणियों का क्षण मात्र भी काम नहीं चल सकता। कहना चाहिये कि जगत् का अस्तित्व अहिंसा के आधार पर ही टिका हुआ है।

कहा जा सकता है कि हिंसा के बिना भी कैसे काम चल सकता है? तो मैं पूछता हूँ कि तू हिंसा अपनी चाहता है या दूसरो की? अपनी नहीं चाहता है, दूसरों की चाहता है। अगर तू दूसरों की हिंसा चाहता है तो समझ ले कि तेरे लिये भी हिंसा तैयार है। यह तो गति की प्रत्यागति और आघात का प्रत्याघात है। अतएव अगर तू अपनी अहिंसा चाहता है तो दूसरों की हिंसा की भी चाह मत कर।

तू दूसरों की हिंसा चाहता है, तो जैसे तेरे लिये दूसरे, दूसरे हैं उसी प्रकार दूसरों के लिये तू भी दूसरा है। क्या वे तेरी हिंसा नहीं चाहेंगे? तू दूसरे की हिंसा करने में संकोच नहीं करेगा तो दूसरे तेरी हिंसा करने में क्यों सकोच करेंगे? इस प्रकार ससार में मारामारी मच जायगी। घोर अशान्ति और त्रास का दौर शुरु हो जायगा। अतएव यदि तू अपनी आत्मा को शान्ति पहुँचाना चाहता है तो तुझे अहिंसा की शरण में जाना चाहिये। दूसरे की हिंसा को अपनी हिंसा समझना चाहिए और दूसरे की दया को अपनी ही दया

किन्तु अन्याय का प्रतीकार करने के लिये सेना-सन्धान करना भी अनुचित नहीं मानते। ये मध्यम कोटि के अहिंसा धर्म के पालक हैं। इसमें श्रावक सम्यग्दृष्टि न्यायप्रिय और वीर पुरुषों का समावेश है। तीसरे तामसी वृत्तिवाले भी अहिंसा धर्म के पालन का दावा करते हैं, परन्तु ऐसे प्राणियों द्वारा वास्तविक अहिंसा नहीं पाली जा सकती। वे केवल 'अहिंसा पालक' नामधारी हैं अहिंसा का सच्चा स्वरूप समझते ही नहीं। वे लोग अपनी माँ-बहन की बेइज्जती होते देखकर हृदय में तो बहुत क्रोध लाते हैं किन्तु 'कहीं मर न जाऊँ' इस भय से चुप्पी साधे रहते हैं। जब कोई उनके इस मौन का कारण पूछता है तो कह देते हैं कि मैं अहिंसा धर्म का पालक हूँ इसलिये अपने धर्म के पालन के लिए, मैंने उसे दण्ड नहीं दिया और दयापूर्वक छोड़ दिया। इस तरह मन में भय भ्रान्त होकर ऊपर से अहिंसा की बातें बनाने वाले तामसी लोग अहिंसा का ढोंग मात्र रचते हैं।

ऐसी वृत्ति रखकर अहिंसा का ढोंग करने वाला मनुष्य कायर किंवा नपुंसक के समान है। वह संसार के लिये बोझ है। ऐसी वृत्ति वाला ढोंगी मनुष्य अपने आत्मा का अपमान करनेवाला होने से आत्मघातक आदि पापियों के समान हिंसक ही है वास्तविक अहिंसक नहीं।

अहिंसा-आचरण की शक्यता

बाह्य और आभ्यन्तर स्वरूप को समझने के लिये हिंसा-अहिंसा को समझना चाहिये। अहिंसा के बिना ससार के समस्त प्राणियों का क्षण मात्र भी काम नहीं चल सकता। कहना चाहिये कि जगत् का अस्तित्व अहिंसा के आधार पर ही टिका हुआ है।

कहा जा सकता है कि हिसा के बिना भी कैसे काम चल सकता है? तो मैं पूछता हूँ कि तू हिंसा अपनी चाहता है या दूसरो की? अपनी नहीं चाहता है, दूसरों की चाहता है। अगर तू दूसरों की हिंसा चाहता है तो समझ ले कि तेरे लिये भी हिंसा तैयार है। यह तो गति की प्रत्यागति और आघात का प्रत्याघात है। अतएव अगर तू अपनी अहिंसा चाहता है तो दूसरों की हिंसा की भी चाह मत कर।

तू दूसरों की हिंसा चाहता है, तो जैसे तेरे लिये दूसरे, दूसरे हैं उसी प्रकार दूसरों के लिये तू भी दूसरा है। क्या वे तेरी हिंसा नहीं चाहेगे? तू दूसरे की हिंसा करने में संकोच नहीं करेगा तो दूसरे तेरी हिंसा करने मे क्यों संकोच करेंगे? इस प्रकार ससार में मारामारी मच जायगी। घोर अशान्ति और त्रास का दौर शुरु हो जायगा। अतएव यदि तू अपनी आत्मा को शान्ति पहुँचाना चाहता है तो तुझे अहिंसा की शरण में जाना चाहिये। दूसरे की हिंसा को अपनी हिंसा समझना चाहिए और दूसरे की दया को अपनी ही दया

न समायरियव्वा । तंजहा—बंधे वहे, छविच्छेए, अइभारे भत्तपाण वुच्छेए त्ति ।

(१) श्रमणोपासक स्थूल प्राणातिपात का त्याग करता है ।
(२) स्थूल प्राणातिपात दो प्रकार का है—संकल्प से और आरंभ से ।
(३) इनमें से श्रमणोपासक संकल्प से, जिन्दगी भर के लिए हिंसा त्यागता है ।

(४) आरंभ से नहीं ।
(५) स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत के श्रमणोपासक को पाँच अति, चार जानने योग्य हैं आचरण करने योग्य नहीं । वे इस प्रकार-बंध वध छविच्छेद अतिभार और भक्तपानविच्छेद ।

शंका की जा सकती है कि श्रावक स्थूल हिंसा का त्याग करता है तब भी सूक्ष्म हिंसा तो शेष रह ही जाती है । उसे भी क्यों नहीं त्याग देता ?

इसका समाधान यह है कि सूक्ष्म हिंसा का त्याग अवश्य शेष रह गया है परन्तु यह उसकी कमजोरी है । पृथ्वीकाय अप्काय तेजस्काय वायुकाय और वनस्पतिकाय की सूक्ष्म हिंसा से श्रमणोपासक निवृत्त नहीं हुआ है इसको वह अपनी असमर्थता मानता है । वह इस हिंसा को भी हिंसा समझता है । अगर इस हिंसा को वह हिंसा न माने तो सम्यग्दृष्टि नहीं रह जाय मिथ्यात्वी हो जाय । सम्पूर्ण जीवों की दया तो महाव्रत में पाली जा सकती है । जिसमें इतनी शक्ति नहीं आई है, साधु बनने की जिसकी तैयारी नहीं है, वह क्या करे ? क्या उसे अहिंसा के मार्ग पर दो-चार कदम भी नहीं बढ़ना चाहिए ? इसलिए चारित्र के महाव्रत और अणुव्रत रूप दो भेद किये गये हैं । जो महाव्रतों का पालन नहीं कर सकते उनके

लिए अणुव्रत हैं। जिसकी जैसी रुचि और शक्ति हो उसे उतना ही चारित्र पालना चाहिए। यह नहीं कि पूर्ण चारित्र नहीं पल सकता तो देश चारित्र भी न पाला जाय।

आपने एक दर्जी को बुलाया और उसके सामने कपडे का थान रख दिया। वह आपसे पूछता है—मैं इसका क्या बनाऊँ ? कोट बना दू या लम्बी अंगरखी ? आप उसे कोट बनाने को कहेंगे तो वह कोट बनाएगा। यदि वह ऐसा न करके अंगरखी बना दे तो ऐसा करना उसका अकाम कहलाएगा।

इसी प्रकार जो पुरुष किसी सन्त-महात्मा के पास आकर कहता है, कि मुझे गृहस्थ-धर्म या श्रावक-धर्म धारण करा दीजिए, तो संत का कर्त्तव्य है कि वे उसे उसकी रुचि एवं शक्ति के अनुसार ही धर्म धारण करावें और समझें कि अभी इसकी योग्यता इतनी ही है। जबर्दस्ती करके, उसकी शक्ति से बाहर, व्रत धारण कराना उचित नहीं। यही कारण है कि तीर्थङ्कर भगवान् ने 'हिंसा के स्थूल और सूक्ष्म भेद किये हैं।

३–हिंसा के भेद

जब श्रमणोपासक स्थूल हिंसा का त्याग करता है तो यह भी समझ लेना चाहिए कि स्थूल हिंसा किसे कहा गया है ?

यहाँ स्थूलता दो अपेक्षाओं से बतलाई गई है:—एक शास्त्रीय दृष्टि से और दूसरी लौकिक दृष्टि से। जिसको सर्वसाधारण लोग भी जीव कहते हैं, जिसकी हिंसा लोक में भी हिंसा कहलाती है, यानी सकल आबाल गोपाल-प्रसिद्ध द्वीन्द्रियादिक हिलते-चलते जो जीव हैं, उनकी हिंसा यहाँ स्थूल हिंसा कही गई है। और उनकी अपेक्षा

समझना चाहिए। दया का बदला दया और हिंसा का बदला हिंसा है।

कोई आदमी जंगल में जाकर कहे—'तेरा बाप चोर!' तो उसकी प्रतिध्वनि उसके कानों में आकर टकरायेगी—'तेरा बाप चोर!' मगर कोई कहे—'तेरा बाप धर्मात्मा' तो वही आवाज वापिस आएगी कि—'तेरा बाप धर्मात्मा!'

इस प्रकार प्रकृति जगत् के जीवों को बोध दे रही है कि हिंसा का बदला हिंसा और दया का बदला दया है।

कहा जा सकता है कि आत्म-कल्याण और जगत्-कल्याण की दृष्टि से अहिंसा अच्छी चीज है, परन्तु जीवनयात्रा इतनी विकट है कि दूसरों को तकलीफ पहुँचाये बिना निभ नहीं सकता। अहिंसा का पूर्ण रूप से पालन किया जाय तो पल भर भी जीना कठिन हो जाय। फिर तो प्राण ही देने पड़ें। मगर प्राण देकर भी हिंसा से बचना संभव नहीं है, क्योंकि प्राण देना भी तो हिंसा है। इसे आप आत्महत्या कहते हैं। फिर अहिंसा को अमल में कैसे लाया जाय? इसका कोई उपाय भी है?

इसका उत्तर मैं इस प्रकार देता हूँ कि सर्व प्रथम यह निश्चय करो कि हिंसा और अहिंसा में से कर्त्तव्य क्या है? और अकर्त्तव्य क्या है? अगर आपको निश्चय हो गया है कि अहिंसा कर्त्तव्य है तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि किस प्रकार अहिंसा का पालन किया जाय? यह एकदम से पूर्ण होती नहीं है तो पूर्ण रूप से ही पालन के लिए कोई जोर नहीं देता।

कल्पना कीजिए, एक आदमी को कोई बड़ा रोग हो गया है। वह एकदम नहीं जाता परन्तु धीरे-धीरे मिटाया जा सकता है।

तो क्या उसे धीरे-धीरे नहीं मिटाना चाहिए? अवश्य उसे धीरे-धीरे दूर करना चाहिए और ऐसा ही किया भी जाता है।

इसी प्रकार हिंसा आत्मा का बड़ा रोग है। वह दूर करने योग्य है। मगर वह यकायक दूर नहीं होती। वह शरीर के साथ ही जनमी हुई है। देह-धारियों से किसी न किसी प्रकार हिंसा हो ही जाती है। फिर भी उसे मिटाना है—भले ही वह धीरे-धीरे मिटे।

हिंसा के रोग से मुक्त होने के भगवान् ने दो मार्ग बतलाये हैं। एक अनगारधर्म और दूसरा अगारधर्म, जिन्हें क्रमश साधु-धर्म और श्रावकधर्म भी कहते हैं। इन दोनों उपायों से अहिंसा अमल में लाई जा सकती है।

अनगारधर्म के भी अनेक भेद हैं, परन्तु यहाँ उनका कथन नहीं किया जायगा। आपके सामने गृहस्थ धर्म रक्खा जा रहा है—

२–हिंसा की त्यागविधि

सब व्रतों में पहला व्रत प्राणातिपात का त्याग करना है। प्राणातिपात का अर्थ हिंसा है। श्रावक स्थूल हिंसा का त्याग करता है। कहा भी है—

थूलगपाणाइवायं समणोवासओ पच्चक्खाइ—
से पाणाइवाए दुविहे पण्णत्ते, तजहा-संकप्पओ य, आरंभओ य।
तत्थ समणोवासओ संकप्पओ जावजीवाए पच्चक्खाइ,
नो आरंभओ।

थूलगपाणाइवाय वेरमणस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा

न समायरियव्वा । तंजहा—बंधे वहे, छविच्छेए, अइभारे भत्तपाण वुच्छेए त्ति ।

(१) श्रमणोपासक स्थूल प्राणातिपात का त्याग करता है ।
(२) स्थूल प्राणातिपात दो प्रकार का है—संकल्प से और आरंभ से ।
(३) इनमें से श्रमणोपासक संकल्प से, जिन्दगी भर के लिए हिंसा त्यागता है ।

(४) आरंभ से नहीं ।
(५) स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत के श्रमणोपासक को पाँच अतिचार जानने योग्य हैं आचरण करने योग्य नहीं । वे इस प्रकार-बंध वध छविच्छेद अतिभार और भक्तपानविच्छेद ।

शंका की जा सकती है कि श्रावक स्थूल हिंसा का त्याग करता है तब भी सूक्ष्म हिंसा तो शेष रह ही जाती है । उसे भी क्यों नहीं त्याग देता ?

इसका समाधान यह है कि सूक्ष्म हिंसा का त्याग अवश्य शेष रह गया है परन्तु यह उसकी कमजोरी है । पृथ्वीकाय अप्काय तेजस्काय वायुकाय और वनस्पतिकाय की सूक्ष्म हिंसा से श्रमणोपासक निवृत्त नहीं हुआ है, इसको वह अपनी असमर्थता मानता है । वह इस हिंसा को भी हिंसा समझता है । अगर इस हिंसा को वह हिंसा न माने तो सम्यग्दृष्टि नहीं रह जाय मिथ्यात्वी हो जाय । सम्पूर्ण जीवों की दया तो महाव्रत में पाली जा सकती है । जिसमें इतनी शक्ति नहीं आई है, साधु बनने की जिसकी तैयारी नहीं है, वह क्या करे ? क्या उसे अहिंसा के मार्ग पर दो चार कदम भी नहीं बढ़ना चाहिए ? इसलिये चारित्र के महाव्रत और अणुव्रत रूप दो भेद किये गये हैं । जो महाव्रतों का पालन नहीं कर सकते उनके

लिए अणुव्रत हैं। जिसकी जैसी रुचि और शक्ति हो उसे उतना ही चारित्र पालना चाहिए। यह नहीं कि पूर्ण चारित्र नहीं पल सकता तो देश चारित्र भी न पाला जाय।

आपने एक दर्जी को बुलाया और उसके सामने कपड़े का थान रख दिया। वह आपसे पूछता है—मैं इसका क्या बनाऊँ? कोट बना दू या लम्बी अगरखी? आप उसे कोट बनाने को कहेंगे तो वह कोट बनाएगा। यदि वह ऐसा न करके अंगरखी बना दे तो ऐसा करना उसका अकाम कहलाएगा।

इसी प्रकार जो पुरुष किसी सन्त-महात्मा के पास आकर कहता है, कि मुझे गृहस्थ-धर्म या श्रावक-धर्म धारण करा दीजिए, तो सत का कर्त्तव्य है कि वे उसे उसकी रुचि एव शक्ति के अनुसार ही धर्म धारण करावें और समझें कि अभी इसकी योग्यता इतनी ही है। जबर्दस्ती करके, उसकी शक्ति से बाहर, व्रत धारण कराना उचित नहीं। यही कारण है कि तीर्थङ्कर भगवान् ने हिंसा के स्थूल और सूक्ष्म भेद किये हैं।

३—हिंसा के भेद

जब श्रमणोपासक स्थूल हिंसा का त्याग करता है तो यह भी समझ लेना चाहिए कि स्थूल हिंसा किसे कहा गया है?

यहाँ स्थूलता दो अपेक्षाओं से बतलाई गई है—एक शास्त्रीय दृष्टि से और दूसरी लौकिक दृष्टि से। जिसको सर्वसाधारण लोग भी जीव कहते हैं, जिसकी हिंसा लोक में भी हिंसा कहलाती है, यानी सकल आबाल गोपाल-प्रसिद्ध द्वीन्द्रियादिक हिलते-चलते जो जीव हैं, उनकी हिंसा यहाँ स्थूल हिंसा कही गई है। और उनकी अपेक्षा

न समायरियव्वा । तंजहा—बंधे वहे, छविच्छेए अइभारे भत्तपाण वुच्छेए त्ति ।

(१) श्रमणोपासक स्थूल प्राणातिपात का त्याग करता है ।
(२) स्थूल प्राणातिपात दो प्रकार का है—संकल्प से और आरंभ से ।
(३) इनमें से श्रमणोपासक संकल्प से जिन्दगी भर के लिए हिंसा त्यागता है ।

(४) आरंभ से नहीं ।
(५) स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत के श्रमणोपासक को पाँच अति- चार जानने योग्य हैं आचरण करने योग्य नहीं । वे इस प्रकार-बंध वध छविच्छेद अतिभार और भक्तपानविच्छेद ।

शंका की जा सकती है कि श्रावक स्थूल हिंसा का त्याग करता है तब भी सूक्ष्म हिंसा तो शेष रह ही जाती है । उसे भी क्यों नहीं त्याग देता ?

इसका समाधान यह है कि सूक्ष्म हिंसा का त्याग अवश्य शेष रह गया है, परन्तु यह उसकी कमजोरी है । पृथ्वीकाय अप्काय तेजस्काय वायुकाय और वनस्पतिकाय की सूक्ष्म हिंसा से श्रमणो- पासक निवृत्त नहीं हुआ है इसको वह अपनी असमर्थता मानता है । वह इस हिंसा को भी हिंसा समझता है । अगर इस हिंसा को वह हिंसा न माने तो सम्यग्दृष्टि नहीं रह जाय मिथ्यात्वी हो जाय । सम्पूर्ण जीवों की दया तो महाव्रत में पाली जा सकती है । जिसमें इतनी शक्ति नहीं आई है, साधु बनने की जिसकी तैयारी नहीं है, वह क्या करे ? क्या उसे अहिंसा के मार्ग पर दो चार कदम भी नहीं चलना चाहिए ? इसलिए चारित्र के महाव्रत और अणुव्रत रूप दो भेद किये गये हैं । जो महाव्रतों का पालन नहीं कर सकते उनके

लिए अणुव्रत हैं। जिसकी जैसी रुचि और शक्ति हो उसे उतना ही चारित्र पालना चाहिए। यह नहीं कि पूर्ण चारित्र नहीं पल सकता तो देश चारित्र भी न पाला जाय।

आपने एक दर्जी को बुलाया और उसके सामने कपड़े का थान रख दिया। वह आपसे पूछता है—मैं इसका क्या बनाऊँ? कोट बना दूं या लम्बी अंगरखी? आप उसे कोट बनाने को कहेंगे तो वह कोट बनाएगा। यदि वह ऐसा न करके अंगरखी बना दे तो ऐसा करना उसका अकाम कहलाएगा।

इसी प्रकार जो पुरुष किसी सन्त-महात्मा के पास आकर कहता है, कि मुझे गृहस्थ-धर्म या श्रावक-धर्म धारण करा दीजिए, तो सत का कर्त्तव्य है कि वे उसे उसकी रुचि एव शक्ति के अनुसार ही धर्म धारण करावें और समझें कि अभी इसकी योग्यता इतनी ही है। जबर्दस्ती करके, उसकी शक्ति से बाहर, व्रत धारण कराना उचित नहीं। यही कारण है कि तीर्थङ्कर भगवान् ने हिंसा के स्थूल और सूक्ष्म भेद किये हैं।

३—हिंसा के भेद

जब श्रमणोपासक स्थूल हिंसा का त्याग करता है तो यह भी समझ लेना चाहिए कि स्थूल हिंसा किसे कहा गया है?

यहाँ स्थूलता दो अपेक्षाओं से बतलाई गई है:—एक शास्त्रीय दृष्टि से और दूसरी लौकिक दृष्टि से। जिसको सर्वसाधारण लोग भी जीव कहते हैं, जिसकी हिंसा लोक में भी हिंसा कहलाती है, यानी सकल आबाल गोपाल-प्रसिद्ध द्वीन्द्रियादिक हिलते-चलते जो जीव हैं, उनकी हिंसा यहाँ स्थूल हिंसा कही गई है। और उनकी अपेक्षा

सूक्ष्म बुद्धि से जानने योग्य पृथ्वी पानी अग्नि वनस्पति आदि एकेन्द्रिय जीव हैं। शास्त्र की दृष्टि से ये जीव माने गये हैं परन्तु लोक में ये प्रायः जीव रूप से प्रसिद्ध नहीं है। क्योंकि मिट्टी खोदने वाले तथा लकड़ी काटने वाले पुरुष को कोई यह नहीं कहता कि यह हत्यारा है इसने जीव को मारा है! अतः इस हिंसा को सूक्ष्म हिंसा कहा है।

परन्तु आजकल कई पुरुषों ने शास्त्रीय दृष्टिकोण पर बराबर ध्यान न रखते हुए सूक्ष्म पर ज्यादा जोर दे दिया है और स्थूल हिंसा अहिंसा की उपेक्षा कर दी है। इसी कारण आज लोगों में यह भ्रम हो गया है कि सभी जीवों की हिंसा बराबर है। एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव की हिंसा को बराबर—एक ही कोटि का समझना अज्ञान है। ज्ञानियों ने तो स्पष्ट रूप से अलग अलग भेद करके बतला दिये हैं। फिर जिसकी जैसी शक्ति हो उस उसी के अनुरूप अहिंसा का पालन करना चाहिये।

श्रमणोपासक उपर्युक्त स्थूल हिंसा से निवृत्त हो सकता है, सूक्ष्म से नहीं। हाँ वह सूक्ष्म हिंसा को भी हिंसा ही समझता है और उसके त्याग का अभिलाषी भी रहता है परन्तु संसार-व्यवहार में फँसा होने के कारण त्यागने में समर्थ नहीं हो पाता।

४—स्थूल प्राणातिपात

स्थूल जीवों के प्राणों का अतिपात करना स्थूल प्राणातिपात कहलाता है। यहाँ प्राण शब्द से आयु श्वासोच्छ्वास इन्द्रिय तथा योग का ग्रहण होता है। इन प्राणों से वियुक्त करना प्राणातिपात है। इसी को प्राणी की हिंसा कहते हैं।

प्रश्न किया जा सकता है कि प्राणों के अतिपात को प्राणी की हिंसा क्यों कहा गया ? इसे तो प्राणहिंसा ही कहना चाहिए। प्राणी तो अमर है। उसकी हिंसा नहीं हो सकती।

इसका उत्तर यह है कि प्राण, प्राणी का ही होता है। प्राणी के बिना प्राण नहीं रहता। और प्राणी अमर है, इसीलिये तो उसकी हिंसा होती है। प्राणी अमर न होता तो हिंसा का बदला भी कौन भोगता ?

मान लीजिए, एक आदमी के पास अगूठी है। किसी ने उसे चुरा लिया तो बतलाइये कि वह चोरी किसकी कहलाएगी ? अगूठी की अथवा अगूठी वाले की ? यही कहा जाता है कि अगूठी वाले की चोरी हुई है। अगूठी जड है। वह चाहे असली स्वामी के पास रहे या चोर के पास। उसे कोई सुख-दुख नहीं होता। दु ख होता है उसके असली स्वामी को, अत यही माना जाता है कि अंगूठी वाले की चोरी हुई है। इसी प्रकार कल्दार के विषय में समझिये। कल्दार चुरा लिये जाते हैं तो कल्दार वाला ही यह कहता है कि मेरी चोरी हो गई है। इसका कारण भी यही है कि उन कल्दारों की चोरी से उसको दु ख का अनुभव होता है।

यही बात प्राणों की हिंसा के विषय मे है। प्राण उस प्राणी के हैं और उनका अतिपात करने से प्राणी को ही कष्ट होता है, अत वह अतिपात प्राणी की हिंसा कहलाता है।

यहाँ स्थूल का अर्थ विशालकाय हाथी, ऊट आदि प्राणी ही नहीं, वरन् समस्त द्वीन्द्रिय आदि प्राणी है। चाहे कोई छोटे शरीर वाला ही क्यो न हो, फिर भी अगर वह चलता-फिरता है,

धूप और छाया से बचने के लिए इधर उधर जाता है, स्वयं भ्रमण करता है और अपने दुःख को शब्दों से प्रकट करता है तथा कम से कम दो इन्द्रिय वाला है तो वह स्थूल प्राणी कहलाता है। श्रमणोपासक ऐसे स्थूल जीवों की हिंसा का त्याग कर देता है।

५-सूक्ष्म प्राणातिपात

कहा जा सकता है कि सूक्ष्मबुद्धिगम्य सूक्ष्म जीवों को अर्थात् पृथ्वीकाय जलकाय आदि के एकेन्द्रिय जीवों को न माना जाय और जो सहज ही समझ में आते हैं ऐसे स्थूल जीवों को अर्थात् द्वीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों को ही मान लिया जाय तो क्या बाधा है?

इस संबंध में पहली बात तो यही है कि जीवों का अस्तित्व हमारे मानने से हो और न मानने से न हो ऐसा नहीं कहा जा सकता। जो जीव है वह तो जीव ही रहेगा चाहे,कोई उसे जीव माने अथवा न माने। जीव को जीव न मानने वाला उसकी हिंसा करके जीवहिंसा के पाप का भागी होने से नहीं बच सकता। यही नहीं बल्कि उसकी श्रद्धा विपरीत होने के कारण उसे मिथ्यात्व का भी पाप लगेगा। जब स्थावर जीव भी जीव हैं तो उन्हें न मानना योग्य कैसे हो सकता है?

दूसरी बात यह है कि जो स्थूल को मानता है किन्तु सूक्ष्म को नहीं मानता उसका स्थूल को मानना भी नहीं टिक सकता उसकी स्थूल की मान्यता भी नष्ट हो जायगी। कारण यह है कि स्थूलता और सूक्ष्मता परस्पर सापेक्ष हैं। स्थूलता की विद्यमानता में ही सूक्ष्मता है और सूक्ष्मता की विद्यमानता में ही स्थूलता है। एक न हो तो दूसरी भी नहीं हो सकती।

तीसरी बात यह है कि सारा ससार छोटी स्थिति पर टिका हुआ है। सूक्ष्म जीवो को माने बिना ससार की स्थिति कायम नहीं रह सकती। स्थूल जीव तो गिनती के है। मान लीजिए कि वे धीरे-धीरे मोक्ष मे चले जाएँ तो एक दिन ऐसा आ जायगा कि ससार जीव-शून्य हो जायगा। अतएव सूक्ष्म जीवों का अस्तित्व माने बिना जगत की अनादि-अनन्त स्थिति ही नहीं बन सकती। सूक्ष्म जीव अपना विकास करके स्थूल जीव बन जाते हैं। इन सूक्ष्म जीवों की गिनती नहीं है। वे अनन्त है। जब ऐसा मान लिया जाता है तो सब तत्त्व ठीक स्थिति पर रहते हैं। संसार के कभी जीवरहित होने की भी सभावना नहीं रहती है।

इन सूक्ष्म जीवों की हिंसा को सूक्ष्मप्राणातिपात कहते हैं।

६–संकल्पजा और आरंभजा हिंसा

कहा जा सकता है कि स्थूल हिंसा का त्याग तो ससार छोड़ देने पर ही किया जा सकता है। गृहस्थो को तो अनेक ऐसे काम करने पड़ते है, जिनमें त्रस जीवों का विघात होता है। दुकानदारी करना, हल चलाना, मकान बनवाना और भोजन बनाना आदि अनिवार्य कार्यों में त्रस की हिंसा से बचा नहीं जा सकता। कीडे-मकोडे वगैरह मर ही जाते हैं। आपके सामने हिंसा का त्याग करें और फिर उसका पालन न करें, यह तो दोहरे पाप मे पडना है। ऐसी स्थिति में आप ही बतलाइए कि हम अहिंसा को किस प्रकार अमल मे ला सकते हैं?

यह कहना ठीक है, मगर आराधक की योग्यता देखकर ही धर्म की प्ररूपणा की जाती है। हम जानते हैं कि सभी लोग साधु नहीं बन सकते। अतएव किसी को भी अहिंसा का पालन करने में

भद्दापन न हो इस दृष्टि से शास्त्रों में स्थूल हिंसा भी दो प्रकार की बतलाई है—संकल्पजा और आरंभजा।

मारने की बुद्धि से समझ-बूझ कर, मांस हड्डी चमड़ी नख केश या दांत आदि के लिये प्राणी की हिंसा करना संकल्पजा हिंसा है।

मकान बनवाने पृथ्वी खोदने हल जोतने आदि आरम्भ के कामों में जो त्रस हिंसा हो जाती है वह आरंभजा हिंसा कहलाती है।

आरंभजा हिंसा में हिंसा करने का संकल्प नहीं होता, अर्थात जीव का घात करने की भावना नहीं होती जब कि संकल्पजा हिंसा जीव का वध करने के विचार से ही की जाती है।

मान लीजिए, एक आदमी निशाना लगाना सीखने के लिए गोली चलाता है और संयोगवश कोई आदमी उस गोली से मारा जाता है। तो यह गोली चलाने वाले का अपराध तो है और वह दंड का पात्र भी समझा जाता है परन्तु वैसा अपराधी और दंड पात्र नहीं जैसा कि मारने के इरादे से गोली मारने वाला। इस प्रकार यथासम्भव सावधानी रखते हुए भी और किसी भी प्राणी को मारने की नीयत न रखते हुए भी कार्य करते समय प्राणियों का मर जाना आरंभजा हिंसा कहलाता है।

इन दोनों प्रकार की हिंसाओं में से श्रमणोपासक संकल्पजा हिंसा का त्याग करता है। वह आरंभजा हिंसा का पूर्ण रूप से त्याग नहीं कर पाता है।

७–युद्ध की हिंसा

प्रश्न किया जा सकता है कि संग्राम में तलवार, धनुष, बंदूक आदि शस्त्र-अस्त्र लेकर शत्रुओं का सामना करना पडता है और उन्हे मारना भी पड़ता है। अगर यह संकल्पजा हिंसा है तो कोई राजा, सेनापति या सैनिक व्रत-धारी श्रावक हो ही नहीं सकता। इसका उत्तर यह है कि जिनके ऊपर प्रजा की रक्षा का उत्तरदायित्व है, उन्हें अन्याय-अत्याचार का दमन भी करना पड़ता है। अन्याय और भ्रष्टाचार का दमन करने के लिए अन्यायी और अत्याचारी का भी दमन करना अनिवार्य हो जाता है। ऐसा न करने से ससार में अशान्ति फैलती है। अतएव अहिंसा व्रतधारी श्रावक भी ऐसे अवसर पर अपने उत्तरदायित्व से किनारा नहीं काटता। फिर भी उसका उद्देश्य शत्रु का सहार करना नहीं है, अन्याय-अत्याचार का ही सहार करना है। फिर भी जो हिंसा होती है, वह सापराधी की हिंसा है उसे विरोधी हिंसा भी कहते हैं। श्रावक सापराधी को छोड निरपराधी की ही हिसा का त्याग करता है।

अलबत्ता, ऐसे प्रसग पर इस बात का ध्यान रखने की आवश्यकता है कि मारा जाने वाला प्राणी सापराध है या निरपराध? बहुत बार अपराधी के बदले निरपराध को दण्ड दे दिया जाता है। श्रमणोपासक इस विषय में बहुत सावधानी बरतेगा।

आजकल की युद्धनीति के पीछे कोई स्पष्ट दृष्टि नहीं है। आज निरपराध और साधारण का कोई निर्णय नहीं किया जाता। अपराध तो करता है एक आदमी या थोडे आदमी, मगर बम वरसा दिये जाते हैं—समस्त नागरिकों पर। इस वात का कोई विचार नहीं किया जाता कि आखिर उन बूढों, बच्चों और महिलाओं का क्या

अपराध है, जिन पर बमवर्षा की जा रही है और जिनके प्राण लूटे जा रहे हैं ? अपराधी को दण्ड देना दूसरी बात है, किन्तु उसका बहाना करके निरपराध प्रजा पर अत्याचार करना महान् अन्याय है।

८–हिंसक प्राणियों की हिंसा

इस विषय में एक प्रश्न और उठाया जा सकता है। कहा जा सकता है कि सिंह आदि प्राणी हिंसक हैं उन्हें क्यों न मार डाला जाय ? इसका उत्तर यह है कि जो सिंह आपके ऊपर आक्रमण कर रहा है उसकी बात तो अलग है क्योंकि आप निरपराध की हिंसा के त्यागी हैं। सापराध की हिंसा आपने नहीं त्यागी है, परन्तु समग्र सिंह जाति को मार डालने का निर्णय कर लेना अन्याय है, अत्याचार है। विचार करो कि मनुष्य मनुष्य की हिंसा ज्यादा करता है या सिंह ? मनुष्य को अधिक भय किससे है—मनुष्य से या सिंह से ? निस्सन्देह कहा जा सकता है कि मनुष्य सिंह की अपेक्षा मनुष्य की अधिक हिंसा करता है और मनुष्य को मनुष्य से ही अधिक भय है। तो क्या समग्र मनुष्यजाति को मार डालने का निर्णय किया जा सकता है ? नहीं,तो सिंह जाति के लिए ऐसा निश्चय क्यों किया जाय ?

इसके अतिरिक्त इस विशाल भूतल को मनुष्यजाति ने अपने लिए खरीद् नहीं लिया है और न इसका ठेका ही ले रक्खा है। इस पर जैसे मनुष्य को रहने का अधिकार है, उसी प्रकार पशुओं को भी। फिर हिंसक होने के कारण अगर सिंहजाति का संहार करना उचित हो तो सिंहजाति की हिंसा करने वाली मनुष्य जाति का संहार भी क्यों उचित नहीं माना जायगा ?

कहा जाय कि मनुष्य सिंह की अपेक्षा अधिक साधन-संपन्न है, अतएव वही सिंहों को मारने का अधिकारी है, तो यह तो जिस

की लाठी उसकी भैंस' नामक कहावत ही चरितार्थ हुई। निर्बल को मारने या सताने की परम्परा पशुओं से प्रारम्भ होगी तो वह रुकने वाली नहीं है। फिर तो सबल मनुष्य निर्बल मनुष्य को भी मार डालने पर उतारु हो जायगा और उसका ऐसा करना बुरा न समझा जायगा। इस प्रकार न्याययुक्त दृष्टिकोण से विचार करने पर सिंह जैसे हिंसक प्राणियों की जाति का संहार करना भी उचित नहीं ह।

सिंह एकान्त रूप से हिंसक ही होता है यह समझना भी भूल है। कई-एक सिंह तो ऐसे उपकारी, दयालु और कृतज्ञ होते हैं कि जैसे मनुष्य भी नहीं होते। एंड्रूज कील नामक एक व्यक्ति का उदाहरण इतिहास में मिलता है। वह किसी का गुलाम था। उस समय रोम में गुलामों के साथ बहुत सख्ती की जाती थी। उनकी कहीं कोई सुनवाई नहीं होती थी। एड्रूज कील का मालिक भी उसे खूब सताता था। एक बार तग होकर वह वहा से भाग निकला और जगल में चला गया। जगल में पहुँचने पर उसे खयाल आया कि अगर मैं पकड़ा गया तो मेरी और अधिक दुर्दशा होगी, क्योंकि भाग कर चला जाने वाला गुलाम बहुत गुनहगार समझा जाता था। उसे फौज भेज कर कहीं से मगवाया जा सकता था। अतएव उसने अपने प्राण दे देने का विचार स्थिर कर लिया।

कील एक सिंह की गुफा में घुस गया। थोड़ी देर में बाहर से सिंह आया। सिंह के पैर में काटा चुभा हुआ था। गुलाम सोच रहा था कि अपने मालिक के हाथों मारे जाने की अपेक्षा सिंह के द्वारा मारा जाना कहीं अच्छा है।

परन्तु जहाँ अहिंसा आ जाती है, वहाँ किसी प्रकार का वैर नहीं रहता। कहा भी है—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ।

अर्थात्—जहाँ अहिंसा की प्रतिष्ठा होती है वहाँ वैर नहीं रहता । अहिंसक के आसपास रहने वाले हिंसक प्राणी भी निर्वैर हो जाते हैं ।

सिंह उस गुलाम के पास आया और उसने पंजा उठा कर उसके सामने किया । मानो सिंह कहता था कि मेरा काँटा निकाल दे । गुलाम ने सोचा मरते-मरते इसका कुछ उपकार हो जाय तो अच्छा है । उसने सिंह का काँटा निकाल दिया । काँटा निकालते ही सिंह उसका पैर चाटने लगा ।

क्लीज के मालिक को जब उसके भाग जाने का पता चला तो उसने फरियाद की । खोज कराई गई और आखिर क्लीज पकड़ा गया ।

संयोगवश शिकार में वह सिंह भी पकड़ा गया और पिंजरे में बन्द कर दिया । क्लीज को अपने मालिक के साथ धोखा करने के अपराध में सिंह के सामने डाल देने का दंड दिया गया । क्लीज को पता नहीं था कि यह वही सिंह है । वह जब पिंजरे की ओर ले जाया जा रहा था, तब सोच रहा था—मैं जंगल में मरने के उद्देश्य से ही सिंह की गुफा में घुसा था, पर उस समय बच गया । अब यह अच्छा ही हुआ कि मैं सिंह के सामने पिंजरे में डाला जा रहा हूँ । मेरे शरीर से सिंह का कुछ उपकार हो जायगा । सिंह मुझे जन्म समय तक के कष्टों से मुक्त कर देगा ।

आखिर गुलाम सिंह के पिंजरे में छोड़ दिया गया । सिंह उसे पहचान गया । तीन दिन का भूखा होने पर भी उसने उसे नहीं खाया प्रत्युत पूर्व की भाँति उसके पैर चाटने लगा । अनेक

लोग कुतूहल प्रेरित होकर वहाँ आये थे। वे यह हाल देखकर चकित रह गये।

गुलाम फिर बादशाह के सामने पेश किया गया। बादशाह ने कहा—सच-सच कहो बात क्या है? मैं तुम्हारी सब बातें सुनूँगा।

गुलाम बोला—गरीबपरवर! मैं अपने मालिक को सिंह की अपेक्षा भी अधिक निर्दय समझता हूँ। यह मुझे इतना अधिक त्रास देता था कि मैंने जिन्दा रहने की अपेक्षा मरना अधिक सुखकर समझा। यह कह कर उसने अपनी बीती बात बतलाई।

गुलाम का वृत्तान्त सुनकर बादशाह को भी होश आया। उसी दिन गुलामों को न सताने का कानून बनाया गया और उस गुलाम का अपराध क्षमा कर दिया गया।

कहने का आशय यह है कि समग्र सिंह जाति को मार डालना या मार डालने का विचार करना अनुचित है। प्रायः सिंह उसी हालत में मनुष्य पर हमला करता है जब उसको सताने या मारने की भावना मनुष्य के हृदय में हो और वह अपने आपको संकट में पड़ा हुआ समझे। अगर आपका हृदय निर्वैर और निर्भय है तो सिंह के सामने से निकल जाने पर भी वह कुछ नहीं करता।

कई लोग सर्प के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार की बातें कहते हैं। परन्तु कई उदाहरणों से विदित होता है कि सर्प ने भी मनुष्य पर छत्रछाया की। माधवजी सिन्धे, पेशवा के नौकर थे। तब सर्प ने उनके ऊपर छत्रछाया की थी।

सारांश यह है कि कैसा भी प्राणी क्यों न हो जहाँ तक उसके प्रति बुरे भाव न हों वह हमला नहीं करता है। अतएव सब प्राणियों पर दया भावना रखनी चाहिए। अगर इतना न हो तो कम से कम निरपराध जीव की हिंसा से तो बचना ही चाहिए।

८—दया के लिए हिंसा

एक भाई ने शंका की है कि जो प्राणी बहुत कष्ट में है जिसकी बीमारी औषध करने पर भी नहीं मिट रही है, उसे कष्ट और वेदना से छुड़ाने के लिए शस्त्र के द्वारा या इंजेक्शन आदि के द्वारा मार दिया जाय तो क्या हानि है ?

इसका उत्तर यह है कि ऐसा करना ठीक नहीं अगर किसी की माता या पिता को असाध्य रोग हो जाय और ऐसी स्थिति आ जाय कि सेवा शुश्रूषा करने पर भी उन्हें शान्ति प्राप्त न हो तो क्या उन्हें मार देना कोई पुत्र पसंद करेगा ? नहीं। अगर माता पिता भाई आदि को इस प्रकार मार देना उचित नहीं समझा जाता तो बेचारे निर्बोध मूक प्राणी के लिए ऐसा निर्णय कर लेना कैसे उचित कहा जा सकता है ?

वस्तुतः ऐसा करना घोर अनर्थकारी है। इस प्रकार की परम्परा चल पड़ने पर बड़े बड़े अनर्थ होंगे। लोग इस प्रकार की दया के बहाने, अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिये, किसी अप्रिय जन को मार डालने लगेंगे।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक दशा में यह निर्णय करना भी शक्य नहीं है कि अमुक रोगी बचेगा या नहीं ? कभी-कभी ऐसे रोगी भी बच जाते हैं, जिनके बचने की कोई सम्भावना नहीं होती। कई

घटनाएँ तो ऐसी भी सुनी जाती हैं कि रोगी को मरा हुआ समझ कर दाहसस्कार के लिए श्मशान में ले जाया गया और वहाँ उसके शरीर में चेतना के चिह्न नजर आने लगे। वे फिर स्वस्थ हो गये और वर्षों जिन्दा रहे। ऐसी स्थिति में कौन निश्चित रूप से कह सकता है कि अमुक रोगी बचेगा या नहीं? आयु की प्रबलता होने पर जीव असाध्य रोग से भी बच सकता है। अतएव रोग से व्याकुल और दुखी जीव को दयाभाव से प्रेरित होकर भी मार डालना उचित नहीं है।

९–सहयोग और संघर्ष

सहयोग अहिंसा का पक्षपाति है, लेकिन कभी-कभी ऐसा भी अवसर आ जाता है कि सहयोग की रक्षा के लिए सघर्ष करना आवश्यक हो जाता है। ऐसे अवसर पर महत्ता सहयोग की है, सघर्ष की नहीं। मगर लोग सहयोग को भूल कर सघर्ष को महत्त्व दे देते हैं। इसी कारण ससार में आज अव्यवस्था फैली हुई है। सघर्षप्रिय लोग शास्त्रों की भी दुहाई देने लगते हैं और गीता के भी प्रमाण उपस्थित करते हैं। कहते हैं, गीता में लिखा है—

तस्माद् युध्यस्व भारतः

श्री कृष्ण ने अर्जुन को लडने के लिए तैयार किया। बोले-अर्जुन, उठो, तैयार हो जाओ और युद्ध करो।

बहुत से जैन भाई भी चेटक और कोणिक के भीषण संग्राम का दृष्टान्त देते हैं और कहते हैं कि गणराज्य इस सघर्ष के पक्षपाती थे। अगर वे सघर्ष के पक्षपाती न होते तो युद्ध क्यो करते?

इस प्रकार की बातो से बहुत से भाई चक्कर में पड जाते हैं। परन्तु ऐसा समझना भूल है। श्रीकृष्ण या चेटक का ध्येय यह

था कि सबल के द्वारा निर्बल सताया न जाय। न्याय की रक्षा के लिए चेटक को तलवार उठानी पड़ी थी। अर्थात् संघर्ष को नीचा करने के लिए और सहयोग का महत्त्व दिखाने के लिए उन्हें युद्ध करना पड़ा।

जो लोग संघर्ष को उत्तेजित करने के लिए कृष्ण का दृष्टान्त देते हैं उन्हें सोचना चाहिए कि यदि वे संघर्ष के पक्षपाती होते तो दुर्योधन के बिना बुलाये उसके घर क्यों जाते? पाण्डवों को सिर्फ पांच गाँव देने की शर्त पर संधि कराने का प्रयत्न क्यों करते? दुर्योधन के पास जाकर क्यों अपमान करवाते?

इसका अर्थ यही है कि उन्हें जो भी संघर्ष करना पड़ा वह संघर्ष को बढ़ाने के लिए नहीं वरन् सहयोग की रक्षा के लिए करना पड़ा। तो जिस प्रकार सहयोग की रक्षा के लिए कभी कभी संघर्ष का आश्रय लेना पड़ता है उसी प्रकार कभी-कभी श्रावक को संकल्पजा हिंसा के त्याग के लिए आरंभजा हिंसा का आश्रय लेना पड़ता है। परन्तु ऐसा नहीं होना चाहिए कि आरंभजा हिंसा से बचने के लिए संकल्पजा हिंसा में पड़ जाय। उदाहरण के लिए समझिए आपको खुराक खाना आवश्यक है क्योंकि उसके बिना आपकी जीवन यात्रा नहीं चल सकती। किन्तु यदि आरंभजा हिंसा से बचने के लिए अनाज उत्पन्न करने की मात्रा को कम कर दिया जाय तो क्या होगा? या तो मांसभक्षण की शरण लेनी होगी या संथारा करना होगा।

अकाल में संथारा करना आत्महत्या है, क्योंकि सत्तरह प्रकार के मरण में एक बोसट्ट मरण भी गिना गया है, जिसका अर्थ है—अन्नपानी के बिना बिलबिलाते हुए मर जाना। वह अकाम मरण बतलाया गया है।

तो जब वनस्पति की मात्रा कम कर दी गई तो शेष क्या रहा ? मास । मास सकल्पजा हिंसा के विना उपलब्ध नहीं होता । अतएव श्रावक को सदैव इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसका सकल्पजा हिंसा का त्याग टूटन न पावे ।

जब कभी संकल्पजा हिंसा से बचने के लिए आरंभजा हिंसा का आश्रय लेना पडता है, उस समय भी श्रावक का उद्देश्य हिंसा करना नहीं होता । कभी-कभी श्रावक को भी शस्त्र उठाना पड़ता है, वह भी गरीब और असहाय की रक्षा के लिए,नीति की रक्षा के लिए और अनीतिविरोध के लिए । इसी उद्देश्य से आततायियों को दंड भी देना पडता है । पर यह उस समय की बात है, जब आत्मबल से उपद्रव का दमन करने की शक्ति न हो । सहयोग को ध्यान में रखते हुए सब किया जाता है । ऐसा नहीं कि सहयोग को छोड़ दिया जाय और केवल सघर्ष ही का सहारा लिया जाय ।

कोई लोग समझते हैं कि हमारा काम तो शस्त्र से ही चलता है । शस्त्र अर्थात् संघर्ष की ही दुनियाँ में पूजा होती है । मगर वे भ्रम मे हैं । सहयोग की भावना के अभाव में संघर्ष सत्या-नाश का कारण बन जाता है ।

१०--हिंसाजनित वस्तुओं का उपयोग

शंका की जा सकती है कि जब कि श्रावक दो करण तीन योग से हिंसा का त्याग करता है और अनुमोदना करण को खुला रखता है, तो साक्षात जीव को मार कर, उसके अगों से बने हुए पदार्थों का उपयोग कर सकता है या नहीं ? उदाहरणार्थ-पशुओं को मार कर उनकी चमड़ी से बनाये गये जूतों का और उनकी निकाली

हुई चर्बी वाले वस्त्रों का उपयोग करने से उसका व्रत भंग होता है या नहीं ?

इस विषय में मेरा यह कहना है कि दो करण तीन योग से हिंसा का त्यागी श्रमणोपासक, चमड़ी और चर्बी के ही उद्देश्य से मारे गये प्राणी की चमड़ी से बने जूतों का और चर्बी से बने वस्त्रों का उपयोग नहीं कर सकता। वह इस प्रकार हिंसा करके तैयार की हुई किसी भी वस्तु को उपयोग में नहीं ला सकता। अगर वह उपयोग में लाता है तो उसके दो करण तीन योग से किया हुआ त्याग टूट जाता है। यह बात मैं अपने आत्मविश्वास से कहता हूँ।

आप कहेंगे कि फिर अनुमोदना करण को खुला रखने से उसे क्या लाभ हुआ? इसका उत्तर यद्यपि पहले आ चुका है, फिर भी यहाँ दोहराए देता हूँ। श्रावक के लिए यही अनुमोदना खुली है कि जब तक वह गृहस्थी में है, तब तक उसे जात-पाँत वालों से संबंध रखना पड़ता है। जाति बिरादरी के जो लोग ऐसे जूते और कपड़े पहनने वाले हैं, उनके साथ भी संसर्ग रखना पड़ता है। इस संसर्ग के कारण उस उस पाप की किसी अंश में अनुमोदना लगती है।

मैं पूछता हूँ जो जानवर अपनी उम्र पूरी करके मरे हैं उनके चमड़े से बने जूते नहीं मिलते ? और क्या त्रस जीवों का वध किये बिना ही बनने वाले कपड़ा की कमी है ? नहीं, ऐसा कुछ नहीं है। परन्तु जिनके दिल में उन बेचारे दीन पशुओं के प्रति दया भाव नहीं है जिनसे तड़क-भड़क छोड़ी नहीं जाती उन्हें इससे क्या मतलब है? किसी प्राणी को चाहे जैसी यंत्रणा दी जाय कैसा भी कष्ट क्यों न पहुँचाया जाय उन्हें तो बढ़िया वस्तु चाहिए। पर उन्हें समझना चाहिए कि ऐसी हिंसाजनित वस्तुओं का उपयोग करने से कितनी भीषण हिंसा होती है, किस प्रकार की निर्दयता को प्रोत्साहन मिलता

है ? उस भयानक हिंसा का विचार किया जायगा तो पता चलेगा कि रेशमी वस्तुओं को काम में लाने वाला श्रावक दो करण तीन योग से हिंसा का त्यागी नहीं हो सकता।

थोडा विचार करो कि आनन्द जैसे ऋद्धिमान् श्रावक ने केवल सूत के ही वस्त्र क्यों रक्खे थे ? वह रेशमी वस्त्र रख लेते तो क्या हानि थी ? परन्तु वे अपने दो करण तीन योग से किये हुए त्याग में किसी प्रकार की बाधा नहीं पडने देना चाहते थे। लेकिन आज आपको तड़क-भडक चाहिए। चमकदार रेशम चाहिए। मगर अपने त्याग का और रेशम के लिए होने वाली हिंसा का जरा विचार तो करो।

सुना जाता है, एक गज रेशम तैयार करने में चालीस हजार कीडों की हत्या होती है। चालीस हजार कीडों को मारने से एक गज रेशम तैयार होता है। पर इन गरीबों की ओर कौन ध्यान दे ? वे किसके रिश्तेदार हैं ?

मुलायम- मुलायम सूती वस्त्रों के लिए भी आज घोर हिंसा हो रही है। अमेरिका के शिकागो नगर में चर्बी निकालने का बड़ा कारखाना है। वहाँ इतने पशु मारे जाते हैं कि दरवाजे के समान बड़ा नाला खून का बहता है, परन्तु इस घोर हिंसा की ओर भी कौन दृष्टि देता है ? मित्रो, अगर आपको हिंसाजनित रेशमी और सूती वस्त्रों से ही प्रेम है और प्राणियों की दया आपके दिल में नहीं है तो फिर दो करण तीन योग से हिंसा के त्याग का ढोंग क्यों करते हो ? अगर आपके दिल में दया उपजी है तो ऐसे वस्त्रों का उपयोग करना छोड़ देना चाहिए।

यह ठीक है कि जूतों का त्याग करने से आपको कठिनाई होगी यह भी तथ्य है कि आप वस्त्र मात्र का त्याग नहीं कर सकते,किन्तु

जो जूते और जो वस्त्र प्राणियों का वध किये बिना ही तैयार होते हैं उन्हीं का उपयोग करने और वधजनित वस्त्रों और जूतों का त्याग कर देने में क्या कठिनाई है ? श्रावकों को ऐसी वस्तुओं का व्यवहार कदापि नहीं करना चाहिए ।

हाथी-दाँत के लिए हाथियों की हिंसा की जाती है फिर भी कई श्राविकाएँ उनका उपयोग करती हैं । उन्हें ऐसा करना शोभा नहीं देता । जब सोने-चांदी की चूड़ियों से काम चल सकता है तो फिर हिंसा-जनक चीजों का उपयोग करने से क्या लाभ है ? क्यों व्यर्थ पाप का उपार्जन किया जाता है ?

बम्बई में जो गायें-भैंसें ले जाई जाती हैं उन्हें बहुत कष्ट दिया जाता है । प्रथम तो वे इतने सँकड़े स्थान में रक्खी जाती हैं कि इधर-उधर मुड़ भी नहीं सकतीं । जब वे ब्याती हैं तो उनके बच्चे कसाई के हवाले कर दिये जाते हैं और नकली बच्चे उनके सामने रख दिये जाते हैं । बेचारे भोले जानवर उन्हें अपना बच्चा समझकर दूध देते रहते हैं । जब तक वह जानवर कमाई का साधन बना रहता है, अर्थात् खर्च से अधिक आमद देता रहता है तब तक उसे रक्खा जाता है और दूध की कमी होने पर आमद कम और खर्च ज्यादा होने लगता है, तब उन्हें भी कसाई को सौंप दिया जाता है ।

कसाई उन्हें खुले स्थान में ले जाता है, तो उन्हें कुछ आराम मालूम होता है पर थोड़ी ही देर में उनके चारों पैर बाँध दिये जाते हैं और ऊपर से लट्ठों की मार मारी जाती है । मार पड़ने से उनका मांस ढीला और चमड़ा मोटा हो जाता है । इस प्रकार अत्यन्त क्रूरता के साथ उनके प्राण लिये जाते हैं और फिर उनका मांस और चमड़ा अलग-अलग किया जाता है ।

कई बार जिंदा जानवरों की ही खाल उतार ली जाती है। क्यों कि वह बाद में भी मुलायम रहती है। उससे जूते आदि मुलायम-मुलायम चीजें तैयार की जाती हैं।

भारत वर्ष मे पहले प्राय: अत्याचार नहीं होते थे। मुर्दा जानवरों का चमड़ा काम में लाया जाता था। मगर आजकल तो लाखों जानवरों का अत्यन्त क्रूरता पूर्वक वध किया जाता है। इस वध का उत्तरदायित्व क्या उन लोगो पर भी नहीं आता जो इन हिंसाजनित वस्तुओं का उपयोग करते हैं? क्या वे इस पापाचार को उत्तेजना नहीं दे रहे हैं? अगर कोई ऐसी वस्तुओ का उपयोग करना छोड़ दें तो इतनी घोर हिंसा क्यों हो?

जो लोग कहते हैं कि इस प्रकार की वस्तुओ का उपयोग करने पर भी श्रावक के दो करण तीन योग से किये त्याग का भंग नहीं होता, वे भूलते हैं। उनसे पूछना चाहिए कि यदि कोई सीधा मास लाकर खा ले तो उसका व्रत भग होगा या नहीं? अगर भंग होता है तो चर्बी और चमडी का उपयोग करने से भी क्यों भंग नहीं होगा?

कई लोग कहते हैं कि यह वस्तु स्वत मरे प्राणी की चमड़ी से बनी है अथवा इसके लिए प्राणी मारा गया है, यह निर्णय कैसे किया जाय? मैं समझता हूँ कि निर्णय होना कोई बड़ी बात नहीं है। फिर भी अगर निर्णय न हो तो सदिग्ध वस्तु का व्यवहार करना छोड़ देने पर भी कौनसा काम अटक जाता है? मौज-शौक की भावना जरा कम कर दीजिए, फिर इस प्रकार की शकाएँ स्वतः शात हो जाएँगी।

कई लोग कहते हैं, यह कत्लखाने और कारखाने हमारे लिए थोड़े ही चलते हैं। हम उन चीजों को लेना बन्द कर देंगे तो क्या वे बन्द हो जाएँगे?

मैं कहता हूँ—कारखाने बंद हो जाएँ या चलें, इसकी चिंता छोड़कर आप अपने को पाप का भागीदार न बनने देने का विचार करो। अगर सभी लोग देसी वस्तुओं का व्यवहार करना छोड़ दें तो अवश्य ही कारखाने बंद हो जाएँगे। पर ऐसा नहीं होता तो भी आप तो उनका त्याग कर ही दो। ऐसा करने से आप व्यक्तिगत पाप से बच जाओगे।

मान लीजिए, किसी ने एक कसाईखाना खोला और ५) रुपये का शेयर रक्खा। अब आप उसके शेयर लें या न लें कारखाना तो बन्द नहीं होगा। पर आप उसका शेयर खरीदेंगे तो आपको पाप लगेगा या नहीं? अवश्य लगेगा। और अगर आप न खरीदेंगे तो पाप से बच जाएँगे। व्यक्ति-व्यक्ति से ही समष्टि बनती है। व्यक्तिगत पाप टल जायगा तो धीरे धीरे समष्टिगत पाप भी टल जायगा।

इस प्रकार विचार कर जो अहिंसाधर्म का पालन करेंगे, वही कल्याण के पात्र होंगे।